संवर्ग–1 जैन आचार–मीमांसा (Jain Ethics)

सवंर्ग प्रस्तावना

आध्यात्मिक व्यक्ति का लक्ष्य होता है—आत्म-साक्षात्कार। जिसे प्राप्त करने की प्रक्रिया है—सम्यक् आचार। आचार की पवित्रता के बिना केवल ज्ञान और दर्शन लक्ष्य तक नहीं पहुंचा सकते। भगवान महावीर की सारी आचार-व्यवस्था का आधार है—आत्मा। कर्म-बंधन के कारण आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। सम्यक् आचार के द्वारा आत्मा को कर्मबंधन से मुक्त कर परमात्म-पद पर अवस्थित करना ही जैन आचार-मीमांसा का उद्देश्य है। जैन परम्परा में जो भी अनुष्ठान मोक्ष की ओर ले जाने वाला है या जो व्यवहार शास्त्रविहित है वह आचार है और शेष अनाचार। **'णाणस्ससारमायारो'** कहकर ज्ञान की सार्थकता भी आचार से ही मानी गई है। चारित्र की उत्कृष्ट आराधना से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

जैन परम्परा में आचार शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहां आचार के पांच प्रकार बतलाये गए हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। पंचाचार की आराधना ही सम्यक् आचार है। सम्यक् आचार का पालन करने के लिए नव तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सम्यक् आचरण असंभव है। प्रस्तुत इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है—

1. जैन आचार : आधार और स्वरूप, पंचाचार,
2. नव तत्त्व।

जैन आचार : आधार और स्वरूप, पंचाचार (Foundation of Jian-Ethics & Five-fold conduct)

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 आचार का अर्थ
1.3 आचार का स्वरूप
1.4 आचार का महत्त्व
1.5 आचार की पृष्ठभूमि
1.6 जैन आचार का आधार
1.7 जैन आचार-शास्त्र की विशेषताएँ
1.8 पंचविध आचार
    1.8.1 ज्ञानाचार
    1.8.2 दर्शनाचार
    1.8.3 चारित्राचार
    1.8.4 तपाचार
    1.8.5 वीर्याचार
1.9 पंचाचार विकास की प्रक्रिया
1.10 पंचाचार की निष्पत्ति
1.11 बोधप्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- ❖ जैन आचार से परिचित हो सकेंगे।
- ❖ जैन आचार के आधारभूत तत्त्वों को जान सकेंगे।
- ❖ जैन आचार-शास्त्र की विशेषताओं का ज्ञान कर सकेंगे।
- ❖ आचार के विविध प्रकारों को समझ सकेंगे।
- ❖ पंचाचार के विकास की प्रक्रिया को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् उपाय चारित्र-आचार है। आचार का शाब्दिक अर्थ आचरण से है। व्यक्ति का वह आचार जो उसे मोक्ष की ओर ले जाये, सम्यक् आचार है। ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति आचारहीन होने पर सम्माननीय नही होता। इसलिए आचार को ज्ञान से श्रेष्ठ माना गया है। जैन आचार के आधारभूत तत्त्व चार हैं—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। जैन आचार का सम्यक् पालन करने के लिए इन चारों वादों को समझना आवश्यक है। आचार साधना का क्रमबद्ध प्रतिपादन, निश्चय और व्यवहार का समन्वय, आत्मौपम्य की भावना, समभाव की साधना तथा युग की समस्याओं का समाधान देने की क्षमता आदि जैन आचार की विरल विशेषताएँ हैं।

जैन आचार मीमांसा का मुख्य उद्देश्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप है अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त शक्ति। संसारी अवस्था में आत्मा का शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवरणित रहता है। आवरण दूर करने के लिए आवश्यक है—पंचाचार की साधना। प्रस्तुत इकाई में जैन आचार का आधार, स्वरूप, विशेषताएँ एवं पंचाचार की साधना की विवेचन किया जा रहा है।

जैन आचार : आधार और स्वरूप
(The Base and Nature of Jain Conduct)

भारतीय दर्शन की चार प्रमुख शाखाएँ हैं—तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा। इनमें से जैन दर्शन में आचार का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि आचार ही मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का साक्षात् साधन है अत: जैन आचार मीमांसा को विस्तार से समझने से पूर्व आचार का स्वरूप और उसके आधार को समझना आवश्यक है।

1.2 आचार का अर्थ (Meaning of Conduct)

आचार का शाब्दिक अर्थ है—आचरण। **आचर्यते इति आचार:**, जिसका आचरण किया जाए, वही आचार है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर बना है। 'चर' धातु का प्रयोग मुख्य रूप से गति—चलना अर्थ में किया जाता है। हमारे मन में शुभ विचारों का चलना विचार है, शुभ वाणी का प्रयोग उच्चार है और शुभ विचारों को जीवन में उतारना आचार है। अच्छे आचार से ही अच्छे विचार की उत्पत्ति होती है और अच्छे विचार से ही आचार अच्छा बनता है। अत: आचार और विचार परस्पर सापेक्ष हैं।

1.3 आचार का स्वरूप (Nature of Conduct)

शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो आचार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे—नीति, धर्म, कर्त्तव्य, नैतिकता आदि। जीवन-निर्वाह के लिए जिन बातों, नियमों की पालना की जाती है, वह आचार है। तत्त्व दर्शन को समग्र रूप से समझने और व्यवहार में उतारने की प्रक्रिया आचार है। इसी से जीवनशैली परिष्कृत और परिशुद्ध होती है। समाज में प्रतिष्ठा का मूल्यांकन भी व्यक्ति का आचार और व्यवहार बनता है। इसीलिए कहा गया—आचार समाज का दर्पण है। सम्यक् आचार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के पालन से न केवल सामाजिक उन्नति अपितु आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अतः आचार ही मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है। जैन आचार का केन्द्र बिन्दु है—आत्मा। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट हैं, वही जैन आचार का स्वरूप है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यह संबंध कब तक बना रहेगा, निश्चित नही है। कर्म के कारण ही आत्मा को विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म से ही पुनर्जन्म होता है। जन्म-मरण और कर्म-परम्परा को रोकने के लिए संवर और निर्जरा की साधना आवश्यक है। संवर और निर्जरा ही जैन आचार का मूल स्वरूप है। संवर की साधना के लिए पांच चारित्र, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा का अभ्यास और बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। निर्जरा में अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म-क्षय किये जाते हैं, जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है, प्रकट होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आचार-शास्त्र का उद्देश्य कर्मों को नष्टकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना है।

1.4 जैन आचार का महत्त्व (Significance of Jain Conduct)

जैन परम्परा में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया—विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ प्राणी है। सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा—आचार से विद्या प्राप्त होती है, मनुष्य की आयु बढ़ती है। कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है। ऐसा कौन-सा सद्गुण है, जो आचार से प्राप्त नहीं होता। आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है।

आचार की महत्ता बताते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा—

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।
शेष एक रुपया रहा, विद्या कला प्रचार।।

अर्थात् सौ रुपये में निन्यानवे रुपये का मूल्य निर्मल और विनम्र आचार को है और विद्या (ज्ञान) को एक रुपया ही मूल्य दिया गया है। इससे भी आचार के महत्त्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

1.5 आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान (Knowledge is the base of conduct)

जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि है—ज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—**'पढमं नाणं तओ दया'** पहले जानो फिर उसका आचरण करो। भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है **'ज्ञानं प्रथमो धर्मः'**। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नही हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है। अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी **बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा** के माध्यम से यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है—पहले बंधन को जानो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने के बाद ही बंधन को तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ किया जा सकता है।

अज्ञानी व्यक्ति हेय-उपादेय को जानता ही नहीं, बंधन-मोक्ष को जानता ही नही तो वह उसे छोड़ने और तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर सकता। धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक, श्रेय-अश्रेय के बीच भेदरेखा खीचने वाला तत्त्व है—ज्ञान।

भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया। अपितु ज्ञान के सार की खोज की। **'णाणस्स सारमायारो'** ज्ञान का सार आचार है। आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। जैसा कि कहा भी गया है—ज्ञान के बिना आचरण पंगु है और आचरण के बिना ज्ञान अंधा है। व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो किन्तु जब तक वह ज्ञान आचरण में नही उतरता तब तक ज्ञान की उज्ज्वलता प्रकट नही हो सकती। इसलिए जैन शास्त्रों का यह उद्घोष है—ज्ञान का सार आचार है।

भगवान महावीर ने कोरा दर्शन नहीं दिया अपितु जीवन में आचरित दर्शन प्रदान किया। उन्होंने कहा जहां ज्ञान, ज्ञान के लिए और क्रिया, क्रिया के लिए होती है उसके पीछे कोई लक्ष्य नही होता तो वह ज्ञान और वह क्रिया व्यर्थ सिद्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होती है। हमारा ज्ञान और आचरण किसी लक्ष्यपूर्ति के लिए होना चाहिए और वह लक्ष्य है—दु:खों से मुक्ति, बंधन से मुक्ति और संसार से मुक्ति। इस प्रकार जैन आचार-मीमांसा की पृष्ठभूमि में है—ज्ञान। आचार के लिए ज्ञान की प्रथम आवश्यकता है, किन्तु ज्ञान के बाद आचरण करना आवश्यक है।

1.6 जैन आचार का आधार (Foundation of Jain Conduct)

कोई भी क्रिया की जाती है तो एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह क्रिया क्यों की जा रही है? इसका हेतु क्या है? आधार क्या है? आधार का निश्चय हुए बिना कोई भी आचार-संहिता नही बन सकती। जैन आचार के आधारभूत तत्त्व ये चार वाद हैं— 1. आत्मवाद, 2. लोकवाद, 3. कर्मवाद, 4. क्रियावाद।

1.6.1. आत्मवाद—जैन दर्शन की आचार-मीमांसा का प्रथम आधार है—आत्मा। आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। उसका अस्तित्व अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जिसे आत्मा का ज्ञान नही होता वह जैन आचार को भी समझ नही सकता। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक अमूर्त्त तत्त्व है। हर व्यक्ति उसे देख नही पाता। इसीलिए बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें यह ज्ञान नही होता कि मैं कौन हूँ, इस जन्म से पूर्व मैं कहाँ था और यहां से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा? अनात्मवादियों के अनुसार हमारा अस्तित्व वर्तमान तक ही सीमित है। अत: उनका आचार केवल वर्तमानिक होता है। वर्तमान जीवन, सामाजिक जीवन, सुख-सुविधा से चल सके, उसी को लक्ष्य में रखकर उनकी आचार-संहिता का निर्माण होता है। जहां आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व मान्य होता है, वहां आचार की शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए उन्नत आचार का पालन किया जाता है, अत: आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति उन्नत आचार की पृष्ठभूमि है, आधारशिला है।

1.6.2. लोकवाद—जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह आत्मा और पुद्‌गल इन दो तत्त्वों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। लोक का अर्थ है—पुद्‌गल। **लोक्यते इति लोक:** के अनुसार जो दिखाई देता है, वह लोक है। पुद्‌गल दिखाई देता है इसलिए उसे लोक कहा गया है। जो आत्मा को जान लेता है वह लोक (पुद्‌गल) को जान लेता है। निष्कर्ष की भाषा में आत्मा और पुद्‌गल—दोनोंका स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि केवल आत्मा होती तो उसके संसार-परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता और केवल पुद्‌गल होता तो भी परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता, अत: दोनों का अस्तित्व है।

1.6.3. कर्मवाद—जैनदर्शन की आचार-मीमांसा का तीसरा आधार है—कर्मवाद। संसारी अवस्था में आत्मा कर्म से बद्ध है। इसी कर्म के कारण अनादि काल से बार-बार उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है। जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए कर्म से मुक्त होना आवश्यक है।

1.6.4. क्रियावाद—आत्मा और कर्म का संबंध क्रिया (आश्रव) के द्वारा होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म-परमाणुओं के साथ संबंध होता रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये चारों वाद सम्पूर्ण जैन आचारशास्त्र के आधार हैं। संसारी अवस्था में आत्मा और कर्म का संबंध रहता है। संबंध का कारण है—क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई संबंध स्थापित नहीं होता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होता है, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, आत्मा और कर्म का संबंध क्षीण होने लगता है। पूर्ण अक्रिया की स्थिति आने पर सारे संबंध नष्ट हो जाते हैं। आचारशास्त्र के निरूपण और पालन के पीछे मूल उद्देश्य कर्म-बंधन से मुक्त हो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है।

1.7 जैन आचार-शास्त्र की विशेषताएँ (Characteristic of Jain Ethics)

जैन आचार-शास्त्र के पुरस्कर्त्ता तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने जिस आचार का प्रतिपादन किया, वह जितना पारमार्थिक था, उतना ही व्यावहारिक भी था। उनके आचारशास्त्र की निम्न विशेषताएँ जानने और आचरण करने योग्य हैं—

1. आचार-साधना की क्रमिकता—जैन आचार साधना की पहली विशेषता यह है कि इसमें साधना की क्रमिक अवस्थाओं का प्रतिपादन है। साधना करने वाले हर साधक का शरीरबल, मनोबल, आत्मबल, श्रद्धाबल समान नहीं होता। हर साधक प्रारम्भ में ही साधना के शिखर पर नही पहुंच सकता। इसलिए भगवान महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किया—श्रावकाचार और श्रमणाचार। साधक अणुव्रतों के आचरण से अपनी साधना प्रारम्भ करे और धीरे-धीरे महाव्रतों की साधना के लिए प्रस्थान करे। साधुता की उत्कृष्ट भूमिका पर पहुंचकर वीतराग, केवलज्ञानी बने और अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करें। इस प्रकार जैन दर्शन में चौदह गुणस्थान के रूप में साधना की क्रमिक भूमिकाओं का प्रतिपादन हुआ है, जिसकी क्रमशः साधना करते हुए साधक साधना के शिखर पर पहुंच सकता है।

2. निश्चय और व्यवहार का समन्वय—जैन आचार साधना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें निश्चय और व्यवहार का समन्वय है। इसमें साधना का जो स्वरूप बताया गया है, उस साधना के पीछे एकमात्र उद्देश्य है—कर्ममुक्ति, कषायमुक्ति। निश्चय नय की दृष्टि से कर्ममुक्ति और कषायमुक्ति ही जैन आचार-साधना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्रत, नियम, संयम आदि की जो भी साधना की जाती है, उसका प्रभाव व्यवहार जगत में भी पड़ता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाला तथा संयमपूर्वक अपना जीवन यापन करने वाला साधक न केवल अपनी आत्मा का उत्थान करता है अपितु समाज में भी आदर्श माना जाता है।

3. आत्मौपम्य की भावना—जैन आचारशास्त्र की तीसरी विरल विशेषता है—आत्मौपम्य-दृष्टि। संसार के हर प्राणी को अपनी आत्मा के तुल्य समझो। जिस प्रकार हमें दुःख, कष्ट पसन्द नहीं है, हमें कोई दुःख, कष्ट देता है तो अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के हर प्राणी को दुःख और कष्ट पसन्द नहीं है, उन्हें कोई दुःख और कष्ट देता है तो उन्हें भी अच्छा नहीं लगता। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया **'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए'** पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—इन सभी जीवों को अपने समान समझो। जिस साधक में यह आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो जाती है, वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी को पीड़ा नहीं देता।

4. समभाव—जैन आचार शास्त्र की चौथी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है—समभाव, समता की साधना। कर्मों के उदय से साधक के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां आती रहती हैं। कभी लाभ होता है कभी अलाभ, कभी सुख होता है कभी दुःख, कभी सम्मान होता है कभी अपमान, किन्तु साधक इन सभी परिस्थितियों में समभाव रखता है, अपना संतुलन नहीं खोता। समभाव की साधना से कर्मों की निर्जरा होती है, नए कर्मों का बंधन नहीं होता।

5. युग की समस्याओं का समाधान—जैन आचारशास्त्र में कुछ ऐसे शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है, जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। साथ ही युग की समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। वर्तमान युग की तीन बड़ी समस्याएँ मानी जाती हैं—हिंसा, अभाव और आग्रह। इन तीनों ही समस्याओं का समाधान जैन दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है।

❖ **हिंसा का समाधान अहिंसा**—आज के युग की एक बड़ी समस्या है—हिंसा। व्यक्ति अपने थोड़े से सुख के लिए दूसरों की हिंसा करता है, शोषण और अन्यायपूर्ण व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप स्वयं कर्मों का बंधन करता है और समाज को भी रुग्ण बनाता है। अहिंसा के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त को समझने वाला तथा अहिंसक जीवन जीने वाला न केवल स्वयं कर्मबंधन से बचता है अपितु स्वस्थ समाज का भी निर्माण करता है।

❖ **अभाव का समाधान अपरिग्रह**—आज के युग की एक बड़ी समस्या है—अभाव। इस देश में आधे से ज्यादा लोग अभाव का जीवन जी रहे हैं। उनके पास खाने के लिए पूरी रोटी नहीं है, पहनने के लिए पूरे वस्त्र नहीं हैं और रहने के लिए मकान नहीं हैं। रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव उन्हें हिंसा, अत्याचार, भ्रष्टाचार करने के लिए मजबूर करता है। महात्मा गांधी ने कहा था—पृथ्वी पर इतनी साधन सामग्री है कि वह प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूरा कर सकती है, किन्तु उसके पास इतनी साधन-सामग्री नहीं है कि वह एक भी व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा कर सके, क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। वे कभी पूरी नहीं होती। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इच्छा पैदा होती रहती है। इच्छाओं पर नियन्त्रण करने के लिए इच्छापरिमाणव्रत-अपरिग्रह व्रत की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इच्छाओं का निग्रह होते ही, आवश्यकताओं का अल्पीकरण स्वयं होने लगता है, जिससे अभाव की समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

❖ **आग्रह का समाधान अनेकान्त**— आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है— आग्रह की वृत्ति। हर व्यक्ति अपने आपको, अपने विचारों और दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह करता है तथा दूसरों के विचारों और दृष्टिकोण को सत्य नहीं मानता। इस आग्रह के कारण ही कलह, असामंजस्य एवं निरपेक्ष भावना का विकास होता है। इस आग्रह की समस्या का समाधान जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। अनेकान्त का तात्पर्य है वस्तु अनन्त धर्मात्मक (स्वभाव वाली) है। अत: उसके एक धर्म को जानकर उसे ही सम्पूर्ण सत्य मानने का आग्रह मत करो। वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, सत्यांश है। दूसरों के विचार और दृष्टिकोण में भी सत्य को खोजने का प्रयास करो। इससे आग्रह की समस्या को समाधान मिलता है। सत्य को जानने का अवसर प्राप्त होता है।

इस प्रकार जैन आचार की साधना जहां मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, वहीं आज की समस्याओं का समाधान देने वाली भी है।

पंचविध आचार (Five-fold Conduct)

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार है— आचार। आचार के आधार पर विकसित विचार ही जीवन का आदर्श बनता है। आचार व्यक्ति का क्रियात्मक पक्ष है और विचार उसका ज्ञानात्मक पक्ष है। ज्ञान का प्रकटीकरण जब क्रिया में होता है तब वह आचार बन जाता है। व्यक्ति के अच्छे या बुरे होने का मापन ज्ञान से नहीं, उसके आचरण से होता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का मूल आधार व्यक्ति का आचार ही है।

जैन आचार मीमांसा का मूल आधार आत्मा है। आत्मा ही कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा में ही कर्म से मुक्त हो परमात्मा बनने की क्षमता है। सम्यक् आचरण करने वाली आत्मा परमात्मा बन जाती है तथा असम्यक् आचरण करने वाली आत्मा जन्म-मरण की परम्परा में परिभ्रमण करती रहती है। जैन आचार-साधना का मूल प्रयोजन परमात्म-पद की प्राप्ति है।

1.8 आचार के प्रकार (Types of Conduct)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का शुद्ध स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है। संसारी अवस्था में उसका यह शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवरणित हो जाता है। आवरण को दूर करने का उपाय है— सम्यक् चारित्र, सम्यक् आचार। ज्ञान और दर्शन चारित्र के ही पोषक तत्त्व हैं। जैन आगमों में विभिन्न दृष्टियों से आचार के भेद-प्रभेद किये गए हैं। कहीं श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के नाम से उसके दो भेद किये गए हैं तो कहीं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से तीन भेद किये गए हैं। उत्तराध्ययन में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप के रूप में चारों के समन्वित रूप को मोक्षमार्ग कहा गया है। स्थानांगसूत्र में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के भेद से पांच भेदों का उल्लेख मिलता है। गहराई से चिन्तन करें तो इनमें संख्या भेद होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। मूल भेद दो हैं— ज्ञान और आचार (क्रिया)। शेष इन्हीं का विस्तार होने से उनका समावेश इन्हीं में किया जा सकता है। जैसे— तप और वीर्य का समावेश चारित्र में तथा दर्शन का समावेश ज्ञान में किया जा सकता है। यहां मुख्य रूप से आचार के पांच प्रकारों का विवेचन किया जा रहा है। वे पांच आचार हैं— 1. ज्ञानाचार, 2. दर्शनाचार, 3. चारित्राचार, 4. तपाचार, 5. वीर्याचार।

1.8.1 ज्ञानाचार

पंचविध आचार में पहला स्थान ज्ञानाचार को दिया गया है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है। ज्ञान से ही व्यक्ति हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्त्वों को जानता है। ज्ञानाचार की महत्ता को बताते हुए लिखा गया— अज्ञानी आत्मा जिन पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करोड़ों वर्षों में कर पाता है, ज्ञानी उन्हीं कर्मों का क्षय एक श्वासोच्छ्वास भर में कर डालता है। आचार अभ्यासात्मक होता है। उसका आसेवन (आचरण) किया जा सकता है। ज्ञानाचार का तात्पर्य श्रुतज्ञान विषयक आचरण से है। श्रुतज्ञान शब्दात्मक है, इससे ज्ञान का आदान-प्रदान हो सकता है, अत: ज्ञानाचार श्रुतज्ञान से संबंधित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यद्यपि आचार ज्ञान से भिन्न है, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति के लिए कुछ विशेष आचरण किये जाते हैं। वे ही ज्ञान के आचार बन जाते हैं। ज्ञानाचार के आठ अंग बताये गए हैं—1. काल, 2. विनय, 3. बहुमान, 4. उपधान, 5. अनिह्नव, 6. व्यंजन, 7. अर्थ और 8. तदुभय—ये आठ ज्ञान के आचार हैं—

1. काल—शास्त्रों के स्वाध्याय का जो काल निर्दिष्ट है, उसी काल में स्वाध्याय करना। स्वाध्याय के लिए वर्जित काल में स्वाध्याय नहीं करना।

2. विनय—ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति विनम्र व्यवहार करना। ज्ञानप्राप्ति के प्रयत्न में सदा विनम्र रहना।

3. बहुमान—ज्ञान के प्रति आन्तरिक अनुराग का होना बहुमान है।

4. उपधान—शास्त्र-वाचन के समय उपवास आदि कोई विशिष्ट तप करना उपधान है।

5. अनिह्नव—जिस गुरु, शास्त्र, ग्रन्थ आदि से ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम न छिपाना, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अनिह्नव है।

6. व्यंजन—शास्त्रों का शुद्ध उच्चारण करना।

7. अर्थ—सूत्रों के अर्थ को समझना।

8. तदुभय—सूत्र और अर्थ दोनों का साथ में बोध करना।

ज्ञानाचार के इन आठों अंगों को ध्यान में रखकर अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने से कर्म-निर्जरा होती है।

1.8.2. दर्शनाचार

आचार का द्वितीय भेद है—दर्शनाचार। सम्यक्त्व विषयक आचरण को दर्शनाचार कहते हैं। सम्यक् दर्शन का अर्थ है—सत्य के प्रति आस्था, रुचि का होना। सम्यग् दर्शन दो प्रकार का होता है—1. नैश्चयिक सम्यग् दर्शन और 2. व्यावहारिक सम्यग् दर्शन। नैश्चयिक सम्यग् दर्शन का सम्बन्ध केवल आत्मा की आन्तरिक शुद्धि या सत्य के प्रति आस्था से होता है। व्यावहारिक सम्यग् दर्शन का सम्बन्ध संघ, गण या सम्प्रदाय से होता है। दर्शनाचार के भी आठ अंग हैं—1. नि:शंकित, 2. निष्कांक्षित, 3. निर्विचिकित्सा, 4. अमूढ़दृष्टि, 5. उपबृंहण, 6. स्थिरीकरण, 7. वात्सल्य और 8. प्रभावना।

(1) नि:शंकित—सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ भगवान के वचनों में संशय नहीं करता।

(2) निष्कांक्षित—सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता। धर्माचरण के द्वारा भौतिक सुख-समृद्धि पाने की इच्छा नहीं करता।

(3) निर्विचिकित्सा—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्म के फल में संदेह नहीं करता कि मैं जो धर्म का आचरण कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नहीं।

(4) अमूढ़दृष्टि—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्तवादी तीर्थिकों के वैभव को देखकर उनमें मूढ़ नहीं बनता।

(5) उपबृंहण—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने सम्यक् दर्शन को और अधिक दृढ़ और पुष्ट बनाता है। प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार नहीं करता और अपने गुणों का गोपन नहीं करता।

(6) स्थिरीकरण—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्ममार्ग या न्यायमार्ग से विचलित होने वाले व्यक्तियों को पुन: ध र्ममार्ग और न्यायमार्ग में स्थिर करता है।

(7) वात्सल्य—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने साधर्मिक बंधुओं के प्रति वात्सल्यभाव रखता है।

(8) प्रभावना—सम्यक्दृष्टि व्यक्ति जिनशासन की महिमा बढ़ाता है और उसकी प्रभावना में निमित्त बनता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.8.3. चारित्राचार

आचार का तीसरा भेद है—चारित्राचार। चारित्र-विशुद्धि के लिए किया जाने वाला आचरण चारित्राचार है। चारित्र का लक्षण है—सत् आचरण में प्रवृत्ति और असत् आचरण से निवृत्ति। सत् आचरण में प्रवृत्ति का नाम समिति और समस्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का नाम गुप्ति है। पांच समिति और तीन गुप्ति के भेद से चारित्र के आठ प्रकार हैं—

(1) **ईर्या समिति**—जागरूकतापूर्वक चलना ईर्या समिति है।

(2) **भाषा समिति**—विवेक पूर्वक बोलना भाषा समिति है।

(3) **एषणा समिति**—शुद्ध आहार की गवेषणा करना एषणा समिति है।

(4) **आदान-निक्षेप समिति**—जागरूकतापूर्वक वस्त्र, पात्र आदि उपकरण लेना और रखना आदान-निक्षेप समिति है।

(5) **उत्सर्ग समिति**—विवेकपूर्वक उत्सर्ग-विसर्जन करना उत्सर्ग समिति है।

(6) **मनोगुप्ति**—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना मनोगुप्ति है।

(7) **वचनगुप्ति**—वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना वचनगुप्ति है।

(8) **कायगुप्ति**—शरीर की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना कायगुप्ति है।

1.8.4. तपाचार

आचार का चौथा भेद है—तपाचार। भारतीय साधना पद्धति में तपस्या का प्रमुख स्थान रहा है। तपस्या कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। इससे आत्मा पवित्र होती है। जैन साधना के अनुसार तपस्या का अर्थ उपवास ही नहीं है अपितु स्वाध्याय, ध्यान आदि भी तपस्या के प्रकार हैं। जैन दर्शन के अनुसार तपस्या के दो प्रकार हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के छह प्रकार हैं—1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षाचरी, 4. रस-परित्याग, 5. कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तर तप के छह प्रकार हैं—1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान, 6. व्युत्सर्ग।

यद्यपि तप चारित्र का ही एक प्रकार है। फिर भी मोक्षमार्ग में इसका विशिष्ट स्थान है। कर्म-क्षय करने का यह असाधारण उपाय है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—शरीर को तपाना या शरीर को कष्ट देना ही तप नहीं है। साधना करते समय जो कष्ट आए, उन्हें समभाव से सहन करना तप है। जहां केवल शरीर तपता है, वहां अहंकार बढ़ता है। जहां शरीर और इन्द्रियां दोनों तपते हैं, वहां संयम बढ़ता है। जहां शरीर, इन्द्रिय और मन—तीनों तपते हैं, वहां आत्मा का द्वार खुलता है। जहां शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—चारों तपते हैं, वहां आत्मा का साक्षात्कार होता है।

1.8.5. वीर्याचार

आचार का पांचवां प्रकार है—वीर्याचार। वीर्य अर्थात् शक्ति। साधक को अपनी शक्ति का गोपन नही करना चाहिए। भगवान महावीर ने कहा—**'णो णिहेज्ज वीरियं'** अपनी शक्ति का गोपन मत करो। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अपनी शक्ति का योजन करना ही वीर्याचार है।

वीर्य का प्रमुख आचार है—अपनी शक्ति का गोपन नहीं करना। कोई व्यक्ति तपस्या कर सकता है, फिर भी यदि यह कहे कि मैं तपस्या नहीं कर सकता तो यह शक्ति का गोपन है। ज्ञान, दर्शन आदि की प्राप्ति में शक्ति का संगोपान न करना ही वीर्याचार है। यह वीर्याचार ही समस्त आचार में प्रवृत्ति कराने वाला है। यदि वीर्याचार का क्षय या क्षयोपशम न हो तो व्यक्ति स्वशक्ति का विकास नहीं कर सकता। वीर्य से हीन व्यक्ति पंचाचार की साधना नहीं कर सकता।

1.9 पंचाचार विकास की प्रक्रिया (Process of Fivefold Conduct-Development)

ये पंचविध आचार जीवन को आध्यात्मिक दिशा की ओर उत्तरोत्तर आगे ले जाते हैं। घाति कर्मों का क्षय कर आत्मा को स्व-स्वरूप में स्थिर कर देते हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी ने प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत इन पांच आचारों को विकसित करने के लिए पांच चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान के अभ्यास की प्रक्रिया प्रस्तुत की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❖ ज्ञानाचार को विकसित करने के लिए ज्ञानकेन्द्र पर ध्यान की आराधना करना।

❖ दर्शनाचार को विकसित करने के लिए दर्शनकेन्द्र पर ध्यान की आराधना करना।

❖ चारित्राचार को विकसित करने के लिए आनन्दकेन्द्र पर ध्यान की आराधना करना।

❖ तपाचार को विकसित करने के लिए तैजसकेन्द्र पर ध्यान की आराधना करना।

❖ वीर्याचार को विकसित करने के लिए शक्तिकेन्द्र और स्वास्थ्यकेन्द्र पर ध्यान की आराधना करना।

ये पांच केन्द्र पांच आचार के संवादी केन्द्र हैं। इन पांचों में भी मूल है—वीर्य-आचार की आराधना। जिसने वीर्याचार की सम्यक् आराधना नहीं की, वह शक्ति के अभाव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप की भी आराधना नही कर सकता। इन पांच केन्द्रों पर ध्यान के अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार का क्षण उपस्थित होता है।

1.10 पंचाचार की निष्पत्ति (Result of five-fold conduct)

पंचाचार की साधना समग्र व्यक्तित्व विकास की साधना है। विकास का आदि बिन्दु है—ज्ञान का विकास। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति किसी भी क्षेत्र मे विकास नही कर सकता। ज्ञान के साथ-साथ दृष्टि सम्यक् हो तो विचारों का परिष्कार होता है। ज्ञान के अनुरूप आचरण करने से ज्ञान जीवन के लिए उपयोगी बनता है। तपस्या के द्वारा आत्मशोधन होने पर ही ज्ञान और क्रिया (आचरण) की दूरी कम होती चली जाती है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपस्या की साधना वीर्य या शक्ति के बिना नही होती। इस दृष्टि से वीर्याचार का महत्त्व सबसे अधिक है। शक्ति का प्रस्फोटन हुए बिना ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की कोई भी क्रिया सम्यक् नही हो सकती। ये पांचों ही बिन्दु समग्र व्यक्तित्व विकास के पेरामीटर हैं, स्वरूप प्राप्ति के सोपान हैं।

1.11 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. आचार किसे कहते हैं?
2. जैन आचार का आधार क्या है?
3. पांच आचार के नाम लिखें?
4. ईर्या समिति किसे कहते हैं?
5. आभ्यन्तर तप कौन-से हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन आचार के आधार और स्वरूप को बताते हुए उसकी विशेषताओं का विवेचन करें?
2. आचार को परिभाषित करते हुए पंचाचार पर प्रकाश डालें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई 1.2

नव तत्त्व
(Nine Categories of Truth)

संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 तत्त्व क्या है?
2.3 तत्त्वों की संख्या
2.4 नव तत्त्व
2.5 नव तत्त्व में हेय, ज्ञेय और उपादेय
2.6 जीव तत्त्व
2.7 अजीव तत्त्व
2.8 बंध तत्त्व
2.9 बंध के प्रकार
2.10 पुण्य तत्त्व
2.11 पुण्य के प्रकार
2.12 पाप तत्त्व
2.13 पाप के प्रकार
2.14 आश्रव तत्त्व
2.15 आश्रव के प्रकार
2.16 संवर तत्त्व
2.17 संवर के प्रकार
2.18 निर्जरा तत्त्व
2.19 निर्जरा के भेद
2.20 मोक्ष तत्त्व
    2.20.1 मुक्त आत्मा का स्वरूप
    2.20.2 मुक्त जीवों का निवास स्थान
    2.20.3 मोक्षमार्ग
    2.20.4 मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगति
2.21 बोधप्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

❖ तत्त्व क्या है? इसे जान सकेंगे।
❖ नव तत्त्वों से परिचित हो सकेंगे।
❖ नव तत्त्व में हेय, ज्ञेय एवं उपादेय तत्त्व कितने हैं? इसका ज्ञान कर सकेंगे।
❖ नव तत्त्व में मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्व कौन-से हैं, इसे समझ सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में नव तत्त्वों का विवेचन किया जा रहा है। तत्त्व के दो अर्थ उपलब्ध होते हैं। पहला अर्थ है—अस्तित्व की दृष्टि से जो मूल पदार्थ है, वह तत्त्व है, जिसे हम सत् (Reality) कहते हैं। यह तत्त्व मीमांसा (Metaphysics) का विषय है। दूसरा अर्थ है—जो मोक्ष की प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। यह आचार-मीमांसा (Ethics) का विषय है। नव तत्त्वों में विवेचित सभी तत्त्वों की मीमांसा इसी दृष्टि से की गई है, इसलिए ये आचार-मीमांसा के तत्त्व हैं।

इन नव तत्त्वों में संवर और निर्जरा मोक्ष के साधक तत्त्व हैं। इसलिए ये उपादेय हैं। जीव-अजीव, पुण्य, पाप, बंध ा और आश्रव मोक्ष के बाधक तत्त्व हैं। इसलिए ये हेय हैं। इन छहों से मुक्त होकर मोक्ष तत्त्व तक पहुंचा जाता है।

नव तत्त्व (Nine Categories of Truth)

'तत्त्व' तत् शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगाकर 'तत्त्व' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—उसका भाव अर्थात् **'तस्य भावः तत्त्वम्'**। वस्तु के भाव या स्वभाव को तत्त्व कहते हैं, जैसे—स्वर्ण का स्वर्णत्व, अग्नि का अग्नित्व, जीव का जीवत्व स्वभाव है।

2.2 तत्त्व क्या है? (What is Reality)

जैन दर्शन के अनुसार तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है तथा तत्त्वों की सही-सही जानकारी होना सम्यक् ज्ञान है। तो सहज ही जिज्ञासा होती है कि तत्त्व क्या है? तत्त्व के लिए सत्, सत्व, अर्थ, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। तत्त्व शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से दो अर्थों में हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—**'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सत् द्रव्य लक्षणम्'**। तत्त्व का पहला अर्थ है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त होता है वह सत् कहलाता है तथा जो सत् है वही द्रव्य तत्त्व है। तत्त्व का दूसरा अर्थ किया गया—**'तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु'** अर्थात् जो परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति में साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। इस प्रकार जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियां काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहां जगत् के विवेचन की प्रमुखता है, वहां धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः तत्त्वों की चर्चा की जाती है और जहां आत्मतत्त्व की प्रमुखता है, वहां जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

2.3 तत्त्वों की संख्या (Number of Realities)

तत्त्व कितने हैं? इसके विषय में तीन दृष्टियां हैं। पहली दृष्टि के अनुसार तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। दूसरी दृष्टि के अनुसार तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तीसरी दृष्टि के अनुसार तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। दार्शनिक ग्रंथों में प्रथम और द्वितीय दृष्टि प्राप्त है। आगम साहित्य में तृतीय दृष्टि उपलब्ध है। आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को बंध के अन्तर्गत समाहित कर तत्त्व सात ही माने हैं।

2.4 नव तत्त्व (Nine Tattvas)

मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थों को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं—

1. **जीव**—जिसमें चेतना हो, वह जीव है।
2. **अजीव**—जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।
3. **बंध**—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम बंध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. पुण्य—शुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं।

5. पाप—अशुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पाप हैं।

6. आश्रव—कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव है।

7. संवर—आश्रव का निरोध करने वाली आत्मपरिणति संवर है।

8. निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

9. मोक्ष—समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना मोक्ष है।

2.5 नव तत्त्व हेय, ज्ञेय, उपादेय के रूप में (Abandonable, Knowledgable, Acceptable)

नव तत्त्वों को हेय, ज्ञेय और उपादेय—इन तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। हेय से तात्पर्य है—छोड़ने योग्य। ज्ञेय से तात्पर्य है—जानने योग्य और उपादेय से तात्पर्य है—ग्रहण करने योग्य। नव तत्त्वों में जीव, पुण्य, पाप, बंध और आश्रव तत्त्व हेय हैं क्योंक ये कर्म-बंधन के कारण हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं, क्योंकि ये कर्ममुक्ति के उपाय हैं। ज्ञेय नव ही तत्त्व हैं क्योंकि नवों तत्त्वो को जाने बिना हेय और उपादेय का विवेक भी नहीं किया जा सकता।

ज्ञेय तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

हेय तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बंध और आश्रव।

उपादेय तत्त्व—संवर, निर्जरा और मोक्ष।

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है जीव और अन्तिम तत्त्व है—मोक्ष। दोनों ही जीव हैं। पहला बद्धजीव है और दूसरा मुक्तजीव है। बंधन से मोक्ष तक पहुंचने के लिए नौ तत्त्वों को विस्तार से जानना आवश्यक है। जिस प्रकार जब कोई रोगी किसी प्रसिद्ध डॉक्टर के पास जाता है तो डॉक्टर सर्वप्रथम यह जानने का प्रयास करता है कि उसका रोग क्या है? रोग का निदान कर लेने के बाद वह रोग के कारणों की खोज करता है? कारण की खोज करने के बाद रोग को दूर करने के उपायों की खोज करता है। रोग अधिक न बढ़े अत: सबसे पहले वह उसे तत्काल रोकने का प्रयास करता है। इसके पश्चात् उस स्थिति का भी आकलन करता है कि रोगमुक्ति के पश्चात् पूर्ण स्वस्थता का स्वरूप क्या होगा? रोग, रोग के कारण, रोगमुक्ति के उपाय तथा रोगमुक्त अवस्था इन चारों तथ्यों को अच्छी तरह से जानकर ही डॉक्टर रोगी के रोग का इलाज करता है। उसी प्रकार दु:खों से या कर्म-बंधन से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले साधक को भी चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। पहला तत्त्व है—दु:ख को जानना। दूसरा तत्त्व है—दु:ख के कारणों को जानना। तीसरा तत्त्व है—दु:ख से मुक्त होने के उपायों को जानना और चौथा तत्त्व है—दु:खमुक्त अवस्था का अनुभव करना। कर्मबंधन दु:ख है। वह बंधन पुण्य (शुभ कर्मबंधन) और पाप (अशुभ कर्मबंधन) के भेद से दो प्रकार का है। दु:ख या कर्मबंधन का कारण है—आश्रव। दु:ख मुक्ति या कर्ममुक्ति का उपाय है—संवर और निर्जरा। दु:खमुक्त या कर्ममुक्त अवस्था है—मोक्ष। इस प्रकार कर्ममुक्ति या दु:खमुक्ति के लिए नव तत्त्वों को जानना आवश्यक है।

2.6 जीव तत्त्व (Sentient Entities)

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है—जीव। जैन आगमों में जीव के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है; यथा—जीव, प्राणी, आत्मा, प्राण, भूत, सत्त्व, स्वयंभू, कर्त्ता आदि। जिसमें चेतना तथा सुख-दु:ख का संवेदन होता है, उसे जीव कहा जाता है। **'उपयोग लक्षणो जीव:'** इस परिभाषा के अनुसार उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग से तात्पर्य है—चेतना का व्यापार। चेतना के दो रूप हैं—ज्ञान और दर्शन। इनके व्यापार (प्रवृत्ति) को उपयोग कहते हैं।

जीव तत्त्व के मुख्यत: दो भेद किये गए हैं—संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्मबंधन है। जो जीव कर्म से बंधे हुए हैं, वे संसारी कहलाते हैं। जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे मुक्तजीव हैं। नव तत्त्वों में विवेचित प्रथम 'जीव तत्त्व' संसारी जीव और नवां 'मोक्ष तत्त्व' मुक्तजीव है। कर्मबंधन के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संसार में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव भी पुन: दो भागों में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव हैं। ये अपने सुख के लिए प्रवृत्ति और दु:ख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते। एक ही स्थान पर स्थिर रहने के कारण इन्हें स्थावर जीव कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से ये जीव स्थावर बनते हैं। मनुष्य, देव, नारक, तथा दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों तक के तिर्यंच जीव त्रस कहलाते हैं। ये अपने सुख-दु:ख की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से ये जीव त्रस बनते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि-निधन है। न इनकी आदि है और न ही इनका अन्त है। ये अक्षय और अविनाशी हैं। आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। द्रव्य दृष्टि से इसका स्वरूप तीनों कालों में एक जैसा रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अत: द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य है। पर्याय दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है अत: पर्याय दृष्टि से वह अनित्य भी है। संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर का संबंध दूध में मिले पानी, तिल में स्थित तेल की भांति एक प्रतीत होता है किन्तु जिस प्रकार दूध से पानी, तिल से तेल अलग है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से अलग है। कर्मों के कारण अनादि काल से आत्मा और शरीर का संबंध बना हुआ है। प्रयत्न विशेष से जिस प्रकार दूध और पानी को, तिल और तेल को अलग-अलग किया जा सकता है उसी प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा अनादि काल से स्थापित आत्मा और शरीर के संबंध को तोड़ा जा सकता है। समस्त कर्मों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

2.7 अजीव तत्त्व (Non-sentient Entities)

अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहां जीव तत्त्व सचेतन होता है वहां अजीव तत्त्व अचेतन होता है। अजीव तत्त्व के दो भेद हैं—अरूपी और रूपी। जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होता है वह रूपी कहलाता है और जो इनसे रहित होता है वह अरूपी कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी अजीव तत्त्व हैं तथा एक पुद्गल रूपी अजीव तत्त्व है।

- ❖ **धर्मास्तिकाय**—जो जीव और पुद्गल की गति में अनन्य सहायक है, वह धर्मास्तिकाय है।
- ❖ **अधर्मास्तिकाय**—जो जीव और पुद्गल की स्थिति में अनन्य सहायक है, वह अधर्मास्तिकाय है।
- ❖ **आकाशास्तिकाय**—जो सब द्रव्यों को ठहरने के लिए आश्रय देता है, स्थान देता है, वह आकाशास्तिकाय है।
- ❖ **काल**—जिसके कारण वर्तना, परिणमन, क्रिया, प्राचीनता, नवीनता आदि संभव है, उसे काल कहते हैं।
- ❖ **पुद्गलास्तिकाय**—जो स्पर्श, रूप, रस, गंध युक्त होता है उसे पुद्गलास्तिकाय कहते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार लोक अथवा सृष्टि की अवधारणा को समझने के लिए धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों को विस्तार से समझना आवश्यक होता है। किन्तु आत्मा को संसारी अवस्था से मुक्त करने के लिए केवल पुद्गल द्रव्य को समझना आवश्यक होता है। क्योंकि कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं तथा उसे संसार में परिभ्रमण करवाते हैं। ये कर्म-पुद्गल ही शुभरूप से उदय में आने पर पुण्य और अशुभरूप से उदय में आने पर पाप कहलाते हैं। जब तक ये कर्म-पुद्गल अपना फल नहीं देते, आत्मा के साथ चिपके रहते हैं, तब तक बंधा कहलाते हैं। जब तक जीव का इस अजीव तत्त्व के साथ संबंध रहेगा तब तक जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता। अत: संसार से, कर्मों से अथवा दु:खों से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ये आवश्यक है कि वह दु:ख, दु:ख के कारण और दु:ख मुक्ति के उपायों को जानें। जानने के बाद दु:ख के कारणों को छोड़ें तथा दु:खमुक्ति के उपायों को ग्रहण कर उसका आचरण करे, जिससे कि वह दु:खमुक्त अवस्था मोक्ष को प्राप्त कर सके।

2.8 बंध तत्त्व (Binding of the Karmic Particles to the Soul)

दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहते हैं। बंध का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना।जीव और कर्मपुद्गल के संबंध को बंध कहते हैं। बंध के दो प्रकार हैं—द्रव्यबन्ध और भावबंध। कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध होना द्रव्यबंध है तथा जिन राग-द्वेषमय भावों के कारण कर्मबंध होता है वे राग-द्वेषमय भाव भावबंध हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जीव और कर्म परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हैं, किन्तु बंध अवस्था में ये दूध में घी की भांति एकमेक हो जाते हैं। अनादि काल से आत्मा और कर्म का संबंध चला आ रहा है। इसी संबंध के कारण वह संसार में अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। यह बंधन ही दु:ख है।

2.9 बंध के प्रकार (Types of Bondage)

जैन दर्शन में बंध के चार प्रकार बताये गए हैं—1. प्रकृति बंध, 2. स्थिति बंध, 3. अनुभाग बंध, 4. प्रदेश बंध।

1. प्रकृति बंध (Bondage of Nature)—प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। आत्मा से संबंध स्थापित करने वाले कर्मों में से किस कर्म का क्या स्वभाव है? वह आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि किन गुणों को आवरणित करेगा। इस प्रकार के वर्गीकरण का नाम प्रकृति बंध है।

2. स्थिति बंध (Bondage of Duration)— कौनसा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक अपना संबंध स्थापित रखेगा। कितने समय के बाद वह अपना फल देगा। इस काल-मर्यादा को स्थिति बंध कहते हैं।

3. अनुभाग बंध— कर्म प्रकृतियों में अच्छा-बुरा, तीव्र या मंद फल देने की शक्ति का होना अनुभाग बंध है। जैसे कोई कर्म तीव्र फल देता है और कोई कर्म मंद फल देता है।

4. प्रदेश बंध (Bondage of Karmic Mass) — आत्मप्रदेशों के साथ कर्म-वर्गणा के पुद्‌गलों का संबंध होना प्रदेश बंध है।

इस प्रकार **प्रकृति** कर्म का स्वभाव है। **स्थिति** कर्म का आत्मा के साथ रहने की काल मर्यादा है। **अनुभाग** कर्म का शुभाशुभ परिणाम है। **प्रदेश** कर्म के दलिकों का समूह है। इन चारों में प्रकृति बंध और प्रदेश बंध का कारण योग (प्रवृत्ति) है तथा स्थिति बंध और अनुभाग बंध का कारण कषाय है। कषायों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर कर्मपुद्‌गलों की स्थिति और फल देने की क्षमता का निर्धारण होता है।

आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को बंध का ही भेद स्वीकार कर तत्त्व सात माने हैं। इन्हें अलग मानने पर तत्त्वों की संख्या नौ हो जाती है।

2.10 पुण्य तत्त्व (Merit)

कर्म बंधन दो प्रकार का होता है—शुभ बंधन और अशुभ बंधन। जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पुण्य कहा जाता है और जब अशुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन कारणों से शुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पुण्य कह दिया जाता है।

2.11 पुण्य के प्रकार (Types of Merit)

पुण्य का बंधन नौ कारणों से होता है अत: पुण्य के नौ प्रकार हैं—

1. अन्न पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म अन्न पुण्य है।

2. पान पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पानक-जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म पान पुण्य है।

3. लयन पुण्य— संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म लयन पुण्य है।

4. शयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म शयन पुण्य है।

5. वस्त्र पुण्य— संयमी पुरुष को दिये जाने वाले वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभकर्म वस्त्र पुण्य है।

6. मन पुण्य— मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म मन पुण्य है।

7. वचन पुण्य— वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म वचन पुण्य है।

8. काय पुण्य— शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म काय पुण्य है।

9. नमस्कार पुण्य— पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभकर्म नमस्कार पुण्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.12 पाप तत्त्व (Demerit)

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। अशुभ रूप में बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन कारणों से अशुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पाप कह दिया जाता है।

2.13 पाप के प्रकार (Types of demerit)

पाप के अठारह प्रकार हैं—

1. **प्राणातिपात पाप**—प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
2. **मृषावाद**—असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
3. **अदत्तादान**—अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
4. **मैथुन**—अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पापकर्म।
5. **परिग्रह**—वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
6. **क्रोध**—उत्तेजना से बंधने वाला पापकर्म।
7. **मान**—अभिमान से बंधने वाला पापकर्म।
8. **माया**—धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से बंधने वाला पापकर्म।
9. **लोभ**—लालसा से बंधने वाला पापकर्म।
10. **राग**—रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
11. **द्वेष**—द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
12. **कलह**—झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
13. **अभ्याख्यान**—मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
14. **पैशुन्य**—चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
15. **परपरिवाद**—पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
16. **रति-अरति**—असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पापकर्म।
17. **माया-मृषा**—छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म।
18. **मिथ्यादर्शनशल्य**—विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पापकर्म।

2.14 आश्रव तत्त्व (The inflow of Karmic Particles to the Soul)

आत्मा और कर्म का संबंध अनादि-कालीन है। संबंध का मूल कारण आश्रव है। आश्रव के द्वारा कर्मों का आकर्षण होता है और कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। संसार से मुक्ति चाहने वाले साधक के लिए कर्मबंधन के कारण आश्रव को जानना और फिर इसे छोड़ना आवश्यक है।

कर्माकर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रवः—जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के समुद्र में स्थित होने पर उन छिद्रों से नौका में जल भरता रहता है और वह नौका समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत आदि आश्रवछिद्रों द्वारा आत्मारूपी नाव में कर्मरूपी पानी का प्रवेश होता रहता है और वह कर्मयुक्त आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहती है।

2.15 आश्रव के प्रकार (Types of Influx)

आश्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों कर्म आने के द्वार हैं। जिस प्रकार दरवाजा खुला होने पर कोई भी अन्दर प्रवेश कर सकता है, अच्छे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं, बुरे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं। उसी प्रकार आश्रव द्वार से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म प्रवेश कर सकते हैं। ये आश्रव द्वार पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों कर्म बंधन के कारण होने से साधना में बाधक तत्त्व हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. मिथ्यात्व (Perversity)

साधना का पहला बाधक तत्त्व है—मिथ्यात्व। विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। मोहकर्म के प्रबल उदय से व्यक्ति जानता हुआ भी सम्यक् नहीं जानता। वह सही को गलत और गलत को सही समझता है। जैसे धर्म को अधर्म समझता है और अधर्म को धर्म समझता है। इस अवस्था में इन्द्रिय-विषयों के प्रति तीव्रतम आसक्ति रहती है। क्रोध, मान, माया और लोभ प्रबलतम होते हैं। मिथ्यात्वी मनुष्य अशाश्वत तत्त्वों को शाश्वत मानकर चलता है। जैसे मकड़ी अपना जाल दूसरे जीवों को फंसाने के लिए बुनती है, किन्तु दूसरा जीव उसमें फंसे या न फंसे, वह स्वयं तो उसमें फंस ही जाती है, उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि वाला इस संसार-जाल में फंस जाता है।

2. अव्रत (Non-abstinence)

साधना का दूसरा बाधक तत्त्व है—अव्रत (त्याग का अभाव)। अव्रत आश्रव के कारण वह पदार्थों में आसक्त रहता है तथा उन्हें प्राप्त करना और भोगना चाहता है। विषय-भोगों की प्राप्ति के लिए हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है। अव्रत के कारण वह हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग नही कर पाता। परिणामस्वरूप कर्मों का बंधन करता है।

3. प्रमाद (Remissness)

साधना का तीसरा बाधक तत्त्व है—प्रमाद। प्रमाद के कारण अध्यात्म के प्रति उसका उत्साह नहीं रहता। प्रमाद का एक अर्थ है—विस्मृति। इसमें आत्मा या चैतन्य की विस्मृति हो जाती है। इस अवस्था में मनुष्य का मन इन्द्रिय-विषयों के प्रति इतना आकर्षित हो जाता है कि उसे करणीय और अकरणीय का भी विवेक नहीं रहता।

4. कषाय (Passion)

साधना का चौथा बाधक तत्त्व है—कषाय। वे मनोवृत्तियां जो आत्मा को कलुषित करती हैं, कषाय कहलाती हैं। राग-द्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। इस आश्रव द्वार में प्रवेश करते ही प्राणी राग-द्वेष के रंग से रंग जाता है। राग के कारण व्यक्ति माया और लोभ का आचरण करता है तथा द्वेष के कारण वह क्रोध और अहंकार का आचरण करता है। इन कषाय के प्रकंपनों से ही प्रथम तीन दरवाजे खुले रहते हैं। मिथ्यात्व, अव्रत और प्रमाद—ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते हैं। इन तीनों आश्रवों के समाप्त हो जाने पर भी कषाय आश्रव से कर्म-परमाणुओं का आगमन होता रहता है।

5. योग (Activity)

योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। मन, वचन और शरीर से होने वाली प्रवृत्ति कर्म-परमाणुओं के साथ आत्मा का योग अर्थात् संबंध कराती है, इसलिए इसे योग कहा जाता है। जब तक प्रवृत्ति है तब तक बंधन है। अशुभयोग (प्रवृत्ति) से अशुभकर्म का बंध होता है और शुभयोग (प्रवृत्ति) से शुभकर्म का बंध होता है। योग आश्रव है, इसलिए इससे कर्मों का आगमन होता है।

आश्रव कर्म बंधन का कारण है और कर्म ही दु:ख, संसार और भवभ्रमण का मूल कारण है। कर्म बंधन के कारण आश्रव को जानकर इन्हें छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। इन पांच आश्रव-द्वारों को बंद करना चाहिए। कर्म-बंधन (दु:ख) से मुक्त होने का उपाय है—संवर और निर्जरा। इसलिए कहा गया—

आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।।

आश्रव संसार में परिभ्रमण का हेतु है और संवर मोक्ष का हेतु है। यह आर्हत् मत ही जिनशासन की दृष्टि है, शेष सब इसका ही विस्तार है।

2.16 संवर (Stopping the Inflow of Karmic Particles)

'आश्रवनिरोधः संवरः' आश्रव का निरोध संवर है। आश्रव कर्म आने का द्वार है और उस द्वार को बंद कर देना संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। वह आते हुए कर्मों को रोकता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजे, खिड़कियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

खुली होती हैं तो मकान में हवा के साथ-साथ धूल आदि कचरा भी प्रवेश कर जाता है किन्तु दरवाजे, खिड़कियों को बंद कर देने पर धूल आदि कचरा भीतर प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार जो साधक कर्म-बंधन से मुक्ति चाहता है, वह पहले संवर की साधना करे। कर्मबंधन के कारण आश्रव का निरोध करे। संवर के द्वारा कर्म-आगमन के द्वार को बंद करे। संवर की साधना से पूर्व निर्जरा का कोई औचित्य नहीं रहता। यदि कोई व्यक्ति मकान के दरवाजे और खिड़कियों को बन्द नहीं करे और झाड़ू लेकर मकान की सफाई करता रहे तो उस सफाई का कोई औचित्य नही रहता क्योंकि खुली खिड़कियों से कचरा निरन्तर भीतर प्रवेश कर रहा है। मकान में स्थित कचरे की सफाई करने से पूर्व आवश्यक है खिड़कियों को बंद करें ताकि नया कचरा भीतर प्रवेश नहीं करे और खिड़कियों को बंद करने के बाद सफाई की प्रक्रिया शुरू करे। उसी प्रकार कर्मों और दु:खों से मुक्ति चाहने वाले साधक के लिए आवश्यक है कि वह पहले संवर के द्वारा कर्म आने के द्वार आश्रव का निरोध करे ताकि नये कर्म भीतर प्रवेश न कर सकें। संवर के बाद निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की सफाई करे ताकि आत्मा कर्म-मलरहित हो शुद्ध और स्वच्छ बन सके।

2.17 संवर के प्रकार (Types of Stoppage)

जिस प्रकार आंधी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर कचरे की सफाई की जाती है। उसी प्रकार आत्मशोधन के लिए आश्रवरूपी द्वार को बंद किया जाता है। आश्रव द्वार पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। संवर के पांच प्रकार हैं—जो इन पांच द्वारों का क्रमश: निरोध करते हैं। वे हैं— 1. सम्यक्त्व संवर, 2. व्रत संवर, 3. अप्रमाद संवर, 4. अकषाय संवर, 5. अयोग संवर।

1. सम्यक्त्व संवर (Right Faith) : यथार्थ तत्त्वश्रद्धा का नाम सम्यक्त्व संवर है। जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों के विषय में सही श्रद्धा का होना और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना ही सम्यक्त्व संवर का स्वरूप है। यह मिथ्यात्व आश्रव का प्रतिपक्षी है। मिथ्यात्वी व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या-गलत होने से वह कर्मों का बंधन करता है। यह कर्म-आगमन का पहला द्वार है। सम्यक्त्व संवर की साधना के द्वारा इस द्वार को बंद किया जाता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद जीव का मोक्ष जाना निश्चित हो जाता है। उसमें मोक्ष जाने की अर्हता प्राप्त हो जाती है।

2. व्रत संवर (Abstinence) : यह अव्रत आश्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इसके दो प्रकार हैं—देशव्रत और सर्वव्रत। सावद्य (पापयुक्त) प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत और पूर्णत्याग सर्वव्रत संवर है। सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति व्रत की उपयोगिता को समझता है। फलस्वरूप वह पापकारी प्रवृत्तियों को छोड़ने का व्रत स्वीकार करता है। व्रत संवर की साधना के द्वारा साधक कर्म-आगमन के दूसरे द्वार अव्रत आश्रव का निरोध करता है।

3. अप्रमाद संवर (Absence of Remissness) : अध्यात्म के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद है। व्रत संवर की साधना से साधक के मन में संसार से विरक्ति का भाव पुष्ट होता है। आत्मा के प्रति जागरूकता बढ़ती है। अप्रमाद प्रमाद आश्रव का प्रतिपक्षी है। अप्रमाद की साधना से कर्म आगमन के तीसरे द्वार प्रमाद आश्रव का निरोध होता है।

4. अकषाय संवर (Absence of Passion) : क्रोध, मान आदि कषायों को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है। यह कषाय आश्रव का प्रतिपक्षी है। कषाय आश्रव के प्रकम्पनों से ही प्रथम तीन दरवाजे खुले रहते हैं। इसके प्रकम्पन जितने कम होते हैं, उतना ही कषाय आश्रव का निरोध होता है।

5. अयोग संवर (Absence of Activity) : मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। प्रवृत्ति का निरोध करना अयोग संवर है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करना व्रत संवर है तथा शुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करना अयोग संवर है। आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में योग (प्रवृत्ति) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। अयोग संवर की साधना के द्वारा योग (प्रवृत्ति) का निरोध किया जाता है। शरीर की प्रवृत्ति का निरोध कायोत्सर्ग और कायगुप्ति के द्वारा, वचन की प्रवृत्ति का निरोध वचनगुप्ति अथवा मौन के द्वारा तथा मन की प्रवृत्ति का निरोध ध्यान के द्वारा होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवरसिद्धि की साधना (Process of Stoppage)

जब तक संवर की साधना नही की जाती तब तक संवर सिद्ध नही होता। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में संवर की साधना के कुछ सूत्र बताये हैं, वे हैं—गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय और चारित्र की साधना। आचार्य महाप्रज्ञ ने संवर की साधना के लिए चार बातों पर बल दिया है। वे हैं—संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। संयम के द्वारा जो कर्म आ रहे हैं उन्हें रोका जाता है। चारित्र के द्वारा जो पहले संचित था उसे समाप्त किया जाता है। प्रतिक्रमण के द्वारा जो आश्रव चल रहा है, उस आश्रव से अपने स्वभाव में लौटा जाता है तथा प्रत्याख्यान के द्वारा भविष्य में पुन: राग-द्वेष के क्षण में न जाने का संकल्प किया जाता है। राग-द्वेष से मुक्त वर्तमान का क्षण चैतन्य के अनुभव का क्षण होता है और वही संवर है।

संवरसिद्धि की प्रक्रिया में सबसे पहले योग आश्रव (चंचलता) का निरोध किया जाता है। चंचलता कम होने पर कषाय स्वत: कम होते चले जाते हैं, जिससे अकषाय संवर पुष्ट बनता है। कषाय कम होने पर प्रमाद कम होता है, अप्रमाद की साधना सध जाती है। प्रमाद कम होने पर आकांक्षा कम हो जाती है, जिससे व्रत संवर का विकास होने लगता है और व्रत चेतना का विकास होने पर मिथ्यादर्शन समाप्त हो जाता है। अत: संवर-साधना की दृष्टि से प्रथम है योग का निरोध, अयोग संवर की साधना। यही संवरसिद्धि की प्रक्रिया है।

2.18 निर्जरा (The shedding off the karmic particles)

संवर के द्वारा कर्मों का आश्रव (आगमन) रुक जाता है अर्थात् नये कर्मों का बंधन नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की सत्ता बनी रहती है। पूर्व संचित कर्मों का क्षय तपस्या के द्वारा होता है। तपस्या के द्वारा कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। कर्म का पूर्ण विलय मोक्ष है तथा आंशिक विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नही। जैसे जल की एक बूंद समुद्र का ही अंश है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अंतर इतना ही है कि मोक्ष में कर्म का सम्पूर्ण विलय होता है और निर्जरा में कर्म का विलय आंशिक होता है।

2.19 निर्जरा के भेद (Types of Shedding)

स्थानांग सूत्र में **'एगा णिज्जरा'** निर्जरा एक है, ऐसा सामान्य की अपेक्षा कथन किया गया है, किन्तु जैसे एक ही स्वरूप वाली अग्नि काष्ठ, पाषाण, गोमय, तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही जाती है, वैसे ही तपस्या के बारह भेद होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वह एक ही प्रकार की है। तप के बारह प्रकार को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है— 1. बाह्य तप, 2. आभ्यन्तर तप।

❖ बाह्य तप (External Penance)

बाह्य तप वह है, जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता है तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा सहित होने से दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें मुख्यत: देह से संबंधित विकार दूर होते हैं। बाह्य तप के छ: प्रकार हैं—1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षाचरी, 4. रसपरित्याग, 5. कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता।

❖ आभ्यन्तर तप (Internal Penance)

आभ्यन्तर तप वह है, जिसमें मानसिक वृत्तियों की प्रधानता रहती है तथा इसमें प्राय: बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नही रहती। इसमें अन्त:करण में स्थित कामनाएँ, वासनाएँ, विकार आदि दूर होते हैं। आभ्यन्तर तप के भी छ: प्रकार हैं—1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

1. अनशन (Fasting)

अशन का अर्थ है—आहार। आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। कर्मों का क्षय करने के लिए सोद्देश्य आहार का त्याग करना अनशन है। आहार के अभाव में भूखा रहना अनशन नहीं है। अनशन दो प्रकार का होता है—1. इत्वरिक अनशन और 2. यावत्कथिक अनशन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इत्वरिक अनशन—इत्वरिक अनशन एक निश्चित काल के लिए होता है। वह कम से कम एक दिन-रात्रि का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छः महीने का भी हो सकता है।

यावत्कथिक—जीवन भर के लिए आहार का त्याग करना यावत्कथिक अनशन है। इसे संथारा भी कहा जाता है।

2. ऊनोदरी (Semi-fasting)

हर व्यक्ति अनशन-उपवास नहीं कर सकता। जो उपवास आदि नहीं कर सकता वह अपने कर्मों की निर्जरा कैसे करे? उसके लिए तप का दूसरा प्रकार ऊनोदरी बताया गया। ऊन का अर्थ है—कम और उदर का अर्थ है—पेट। पेट में जितनी भूख है, उससे कम खाना ऊनोदरी है। उपवास को छोड़कर नवकारसी, प्रहर, एकासन आदि का समावेश भी ऊनोदरी में ही हो जाता है। ऊनोदरी के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी।

(1) द्रव्य ऊनोदरी—भोजन, वस्त्र, पात्र आदि जितने भी उपकरण काम में लिए जाते हैं, उनमें कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। जैसे—प्रतिदिन दो रोटी खाते हैं तो उसमें से जितना संभव हो सके कम खाना। जितने वस्त्र, पात्र आदि काम में लेते हैं, उनसे कम का उपयोग करना द्रव्य ऊनोदरी है।

(2) भाव ऊनोदरी—कषाय को कम करना भाव ऊनोदरी है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को कम करना भाव ऊनोदरी है। जैसे प्रतिदिन दस बार क्रोध करते हैं तो यह संकल्प करना आज पांच या तीन बार से ज्यादा क्रोध नहीं करूंगा।

3. भिक्षाचरी (Conditional Acceptance of Alms)

बाह्य तप का तीसरा भेद है—भिक्षाचरी। भिक्षाचरी का तात्पर्य है विविध प्रकार के अभिग्रह—संकल्प करके आहार की गवेषणा करना। जैसे भिक्षा के लिए जाते समय यह संकल्प करना कि आज भिक्षा में यदि अमुक पदार्थ उपलब्ध ा हुआ, तभी भिक्षा लूंगा अन्यथा भिक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। जिस प्रकार भिक्षा के लिए जाते समय भगवान महावीर ने तेरह अभिग्रह-संकल्प किए। जब तक वे तेरह संकल्प एक साथ पूरे नहीं हुए तब तक उन्होंने भिक्षा ग्रहण नही की। भिक्षाचरी का दूसरा नाम वृत्तिसंख्यान तप भी है।

4. रस-परित्याग (Abstinence from the Delicacies)

आहार का त्याग करना ही तप नहीं अपितु खाते-पीते भी तप किया जा सकता है। रस का अर्थ है—प्रीति बढ़ाने वाला। **'रसं प्रीतिविवर्धनम्'** जिससे भोजन में प्रीति उत्पन्न हो उसे रस कहते हैं। खाद्य पदार्थों में रसीले, पौष्टिक एवं चटपटे पदार्थों का त्याग करना रसपरित्याग है। इसमें मुख्य रूप से दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, कढ़ाई विगय-मिठाई, नमकीन आदि इन छः विगय का त्याग किया जाता है क्योंकि घी, दूध, दही आदि पौष्टिक आहार का अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये मन में विकार पैदा करते हैं।

5. कायक्लेश (Austerity)

बाह्य तप के प्रथम चार भेद आहार से संबंधित हैं और पांचवां भेद शरीर से संबंधित है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है किन्तु भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि से उत्पन्न शरीरिक कष्ट को समभाव से सहन करना है। अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। आसनों के अभ्यास से व्यक्ति सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहन करने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

6. प्रतिसंलीनता (Seclusion)

इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को वहां से हटाकर अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं—

(1) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता—पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का निरोध करना तथा इन्द्रियों के प्राप्त पदार्थों में राग-द्वेष न करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(2) **कषाय प्रतिसंलीनता**—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों के उदय का निरोध करना। यदि रोकते हुए भी इनका उदय हो जाये तो क्षमा आदि आलम्बन से उसे निष्फल करना कषाय प्रतिसंलीनता है।

(3) **योग प्रतिसंलीनता**—मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ प्रवृत्ति में लगाना योग प्रतिसंलीनता है।

(4) **विविक्तशय्यासन**—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित निर्जन, एकान्त, शान्त स्थान पर रहना विविक्त शय्यासन है।

इस प्रकार अनशन से लेकर प्रतिसंलीनता तक के बाह्य तप क्रमशः भोगों को घटाते हुए पूर्ण संयमी बनने की साधना है। संयमी साधक में ही अन्तर्मुखी होने की पात्रता तथा आभ्यन्तर तप करने की योग्यता आती है। अतः आभ्यन्तर तप के लिए बाह्य तप आवश्यक है।

7. प्रायश्चित्त (Atonement)

दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त में दो शब्दों का योग है—प्रायः और चित्त। प्रायः का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। इस प्रकार दोषों से मुक्त होने की, आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा गया है।

8. विनय (Reverence)

विनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—**'विनीयते अष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः'** जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते हैं, वह विनय है। इसका प्रवृत्तिजन्य अर्थ है—गुणीजनों और श्रेष्ठजनों के प्रति यथोचित सम्मानपूर्ण व्यवहार करना, उनको हाथ जोड़ना, उनके आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि। इस प्रकार विनय के दो अर्थ हैं—कर्मों का अपनयन करना और गुणीजनों, बड़ों का बहुमान करना, उनकी आशातना न करना। आशातना अर्थात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

9. वैयावृत्त्य (Service)

वैयावृत्त्य का सीधा-सा अर्थ है—सेवा करना। सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्त्य तप कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवाभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्त्य किया जा सकता है।

10. स्वाध्याय (Scriptural Study)

सद्शास्त्रों के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। इसका दूसरा अर्थ है—स्व का अध्ययन करना अर्थात् आत्मचिंतन-मनन करना स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नही आ सकता। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—

1. **वाचना**—शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना।
2. **पृच्छना**—शंका निवारण के लिए प्रश्न करना।
3. **परिवर्तना**—सीखे हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना।
4. **अनुप्रेक्षा**—अर्थ का चिन्तन करना।
5. **धर्मकथा**—धर्मकथा करना।

11. ध्यान (Meditation)

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का होता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान है। शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना प्रशस्त ध्यान है। अशुभ और अपवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना अप्रशस्त ध्यान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जिस प्रकार रुई को धुनने से उसके तार-तार बिखर जाते हैं। रुई की सघनता मिट जाती है। उन तारों में बल एवं मल नहीं रहता। उसी प्रकार ध्यान साधना के द्वारा सघन कर्म खंड-खंड होकर बिखर जाते हैं। कर्मों की सघनता मिट जाती है। आत्मा निर्मल और पवित्र बनती है।

12. व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग (Abandonment)

व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं—वि और उत्सर्ग। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है—त्याग, छोड़ना। त्याग करने की विशिष्ट विधि व्युत्सर्ग है। यह त्याग अपने शरीर का भी हो सकता है, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का हो सकता है और भोजन-पानी का भी हो सकता है। शरीर व्युत्सर्ग का नाम कायोत्सर्ग है। जिसमें अनासक्ति और निर्लोभता होती है वही व्युत्सर्ग तप की सच्ची आराधना कर सकता है।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना से कर्मों की महान निर्जरा होती है। तप निर्जरा का कारण है, इसलिए तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद के रूप में गिनाया गया है। तप और निर्जरा में कारण-कार्यभाव संबंध है। तप कारण है और निर्जरा कार्य है। कारण-कार्य में अभेद मानकर तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद बताये गये हैं।

2.20 मोक्ष (Emancipation)

नव तत्त्व में अंतिम तत्त्व है—मोक्ष। इस मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करना ही प्रत्येक प्राणी का चरम और परम लक्ष्य है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है। तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है—**'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:'** सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय उसी अवस्था में हो सकता है, जब नवीन कर्मों के बन्ध को सर्वथा रोक दिया जाए तथा पूर्वबद्ध कर्मों की पूरी तरह निर्जरा कर दी जाये। जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे तब तक कर्म का सम्पूर्ण क्षय नहीं हो सकता। संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय-नाश किया जाता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होता है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है जहां आत्मा कर्मों के मल से सर्वथा रहित अमल और धवल हो जाती है। मुक्त आत्माएँ जहां रहती हैं, उस स्थान को भी उपचार से मोक्ष कहा जाता है। किन्तु वह मोक्ष तत्त्व नहीं है। मोक्ष तत्त्व से सिर्फ मुक्त-आत्माओं का ही ग्रहण होता है।

मोक्ष के पर्यायवाची शब्द (Synonyms of Emancipation)

जैन दर्शन में मोक्ष के अनेक पर्यायवाची नाम उपलब्ध होते हैं, यथा—मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, अपवर्ग, नि:श्रेयस, कैवल्य, परमब्रह्म, सिद्धात्मा, परमात्मा, सिद्धि, सिद्धालय आदि।

2.20.1 मुक्त-आत्मा का स्वरूप (Nature of Emancipated Soul)

मुक्तात्मा का स्वरूप संसारी आत्मा से सर्वथा भिन्न होता है। मुक्तात्मा के स्वरूप को बताते हुए आचारांग सूत्र में कहा गया है—**सव्वे सरा नियट्टंति**, अर्थात् जहां से सारे स्वर लौट आते हैं। मुक्त आत्मा न शब्दगम्य है, न तर्कगम्य है और न बुद्धिगम्य है। वह अहेतुगम्य और अज्ञेय है। वह न कृष्ण है, न नील है, न पीत है, न श्वेत है। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व है। मुक्त आत्मा के स्वरूप को बताने के लिए कोई उपमा नहीं है, वह निरुपमेय है। उसकी दशा गूंगे के गुड़ की तरह अनुभवगम्य है। मुक्तात्मा अनन्त ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है।

2.20.2 मुक्त जीवों का निवास स्थान (The dwelling place of Emancipated Souls)

मुक्त आत्माओं का निवास स्थान सिद्धशिला है। इसे ईषत्प्राग्भार पृथ्वी भी कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक तीन भागों में विभक्त है। लोक के अधोभाग में नारक आदि जीवों का निवास है। मध्यभाग में मनुष्य आदि का निवास है तथा ऊर्ध्वभाग में देवों का निवास है। ऊर्ध्वभाग में सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्धि नामक देवलोक है। उस देवलोक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की स्तूपिका के अग्रभाग से बारह योजन की दूरी पर सिद्धशिला है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई 45 लाख योजन है और परिधि का घेरा 8230200 योजन से कुछ अधिक है। इसकी मोटाई मध्य में 8 योजन है और आगे यह पतली होती हुई मक्षिका के पंख से भी पतली हो जाती है। इसका वर्ण श्वेत स्वर्णमय है। यह स्वच्छ, नीरज और निष्पंक है। इससे एक योजन ऊपर लोकान्त है। उस एक योजन के छठे भाग में अनगिनत मुक्त आत्माएँ एक ही आकाश-प्रदेश में निर्बाध रूप से रहती हैं। लोकान्त में प्रतिष्ठित यही एक ऐसा स्थान है, जहाँ न जन्म है, न मृत्यु है, न जरा है और न रोग-शोक है। जन्म-मरण से मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो वे यहां निवास करती हैं।

2.20.3 मोक्ष-मार्ग (Path to Emancipation)

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य का साध्य है—मोक्ष या आत्मोपलब्धि। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्ग बताये हैं—**सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**

1. सम्यक् दर्शन, 2. सम्यक् ज्ञान, 3. सम्यक् चारित्र।

ये तीनों रत्नत्रय कहलाते हैं। लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहा जाता है। इन तीनों के योग से मोक्षमार्ग बनता है। पृथक्-पृथक् तीनों से मोक्ष-मार्ग नहीं बनता। यदि व्यक्ति में धर्म के प्रति श्रद्धा तो है पर धर्म का सही ज्ञान और आचरण नही है तो मोक्ष नही मिलता। धर्म पर श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी यदि उसका आचरण नहीं है तो भी मोक्ष नही मिलता। श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ जब उसका आचरण भी होता है तो मोक्ष-मार्ग बनता है। जैन दर्शन में केवल श्रद्धा, केवल ज्ञान या केवल चारित्र को महत्त्व नही दिया गया अपितु मोक्षप्राप्ति के लिए तीनों की समन्विति को स्वीकार किया गया है। तीनों की युगपत् साधना ही मोक्षमार्ग है। किसी एक का भी अभाव होने पर व्यक्ति अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता है। ज्ञान से वह पदार्थों को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा करता है तथा चारित्र से आने वाले कर्मों को रोकता है तथा बंधे हुए कर्मों को तोड़कर आत्मविशुद्धि कर मोक्ष को प्राप्त करता है।

2.20.4 मुक्त जीवों की ऊर्ध्वगति (Upward Movement of the Emancipated Soul)

सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने के पश्चात् मुक्तजीव तत्काल एक समय में लोक के अन्त तक चले जाते हैं। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होते ही उसी समय एकसाथ एक समय में तीन कार्य होते हैं— 1. शरीर का वियोग, 2. ऊर्ध्वगति, 3. लोकान्त की प्राप्ति।

अनादिकाल से आत्मा के साथ जिन स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का संयोग है, मुक्त होते ही उन शरीरों का वियोग हो जाता है, केवल आत्मा रहती है। आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करना है। प्रश्न हो सकता है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की सहायता के बिना जीव गति कैसे करता है? गति करता भी है तो ऊर्ध्वगति ही क्यों करता है? अधोगति या तिर्यक् गति क्यों नहीं करता? या लोकान्त तक ही गति क्यों करता है उससे आगे अलोक में क्यों नहीं जाता? इसका समाधान देते हुए कहा गया—

नोर्ध्वमुपग्रहविरहात्, अधोऽपि वा गौरवाभावात्।
योगप्रयोगविगमाद् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति।।

अर्थात् गति में सहायता करने वाले धर्मास्तिकाय का अलोक में अभाव होने के कारण जीव लोकान्त तक ही गति करते हैं, अलोक में नही जाते। गुरुता का अभाव होने से अर्थात् हल्के होने से अधोगति भी नहीं करते, क्योंकि भारी चीज ही नीचे जाती है। योग-रहित होने के कारण तिरछी गति भी नहीं करते। मुक्तजीव स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमनशील होते हैं।

कर्म या शरीर आदि की सहायता के बिना भी जीव ऊर्ध्वगति कैसे करते हैं, इसका समाधान तत्त्वार्थसूत्र में चार दृष्टान्तों द्वारा दिया गया है।

1. जैसे कुम्भकार का चाक डंडे और हाथ आदि को हटा लेने पर भी पहले से प्राप्त वेग के कारण घूमता रहता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है, उसी प्रकार संसारी जीव ने मुक्त होने से पहले मुक्ति के लिए अनेक बार जो प्रयत्न किये थे उस पूर्व प्रयत्न के संस्कारों के कारण वर्तमान में प्रयत्न न होने पर भी वह ऊर्ध्वगति करता है। अत: ऊर्ध्वगमन का पहला कारण पूर्व संस्कारों का होना है।

2. मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन का दूसरा कारण कर्मों के भार का नष्ट होना है। जैसे मिट्टी के लेप से युक्त तुम्बा पानी में डूब जाता है और पानी से मिट्टी का लेप उतर जाने पर वह तुम्बा पानी के ऊपर तैरने लगता है, वैसे ही कर्मों के लेप के कारण जीव अधोगति, तिर्यग्गति करता है। कर्मों के लेप के हट जाने पर जीव ऊर्ध्वगमन करता है

3. जैसे छिलके में रहा हुआ एरण्ड का बीज छिलके के फटने पर ऊपर की ओर उठता है, उसी प्रकार कर्मबंधन से छूटते ही जीव ऊपर की ओर गमन करता है।

4. जिस प्रकार अग्नि की शिखा स्वभावत: ऊपर की ओर उठती है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन करना ही है। कर्मों के कारण उसकी स्वाभाविक शक्ति प्रकट नहीं हो पाती अत: वह अधोगति, तिर्यक्गति में गमन करता है किन्तु कर्मों के नष्ट होते ही उसकी स्वाभाविक शक्ति प्रकट हो जाती है इसलिए वह ऊर्ध्वगमन ही करता है।

इस प्रकार समस्त दु:खों से छुटकारा चाहने वाले व्यक्ति को इन नौ तत्त्वों को जानना चाहिए। जानने के बाद आश्रव, पुण्य, पाप, बंध को मोक्षमार्ग में बाधक मानकर उन्हें छोड़ना चाहिए। संवर और निर्जरा को मोक्षमार्ग का साधक मानकर उनका अभ्यास करना चाहिए।

2.21 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. तत्त्व किसे कहते हैं?
2. जीव का लक्षण क्या है?
3. कर्म-बंधन का कारण क्या है?
4. आभ्यन्तर तप किसे कहते हैं?
5. मुक्त जीव कहाँ रहते हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. नव तत्त्वों पर एक निबन्ध लिखें?
2. मोक्ष के साधक तत्त्वों का विवेचन करें?
3. जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवधारणा पर प्रकाश डालें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-2 श्रमणाचार (Conduct of Jain Monk)

संवर्ग प्रस्तावना

प्रत्येक मनुष्य शाश्वत सुख का अभिलाषी होता है। शाश्वत सुख के लिए आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास आचार की शुद्धता के बिना संभव नहीं है। आचार की शुद्धता के लिए आचार-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आचार के दो मार्ग हैं—श्रावकाचार और श्रमणाचार। गृहस्थ आश्रम में रहकर अहिंसा आदि व्रतों का अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। संन्यास ग्रहण कर अहिंसा आदि व्रतों का अखण्ड रूप से पालन करना श्रमणाचार है। 'श्रमणाचार' नामक इस दूसरी इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है— 1. श्रमणाचार और दस धर्म। 2. षडावश्यक, गुणस्थान और लेश्या।

श्रमणाचार और दस धर्म
(Conduct of Jain Monk and Ten Righteousness)

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 श्रमण का अर्थ
1.3 श्रमण का आचार
1.4 पांच महाव्रत
- 1.4.1 अहिंसा महाव्रत
- 1.4.2 सत्य महाव्रत
- 1.4.3 अचौर्य महाव्रत
- 1.4.4 ब्रह्मचर्य महाव्रत
- 1.4.5 अपरिग्रह महाव्रत
- 1.4.6 रात्रिभोजन-विरमण व्रत

1.5 अष्ट प्रवचनमाता
1.6 पांच समिति
- 1.6.1 ईर्या समिति
- 1.6.2 भाषा समिति
- 1.6.3 एषणा समिति
- 1.6.4 आदान-निक्षेप समिति
- 1.6.5 उत्सर्ग समिति

1.7 तीन गुप्ति
- 1.7.1 मनोगुप्ति
- 1.7.2 वचनगुप्ति
- 1.7.3 कायगुप्ति

1.8 गुप्ति के लाभ
1.9 धर्म
1.10 धर्म के दस प्रकार
1.11 बोधप्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- ❖ श्रमण के वास्तविक अर्थ को समझ सकेंगे।
- ❖ श्रमण की आचार-संहिता से परिचित हो सकेंगे।
- ❖ पांच महाव्रतों का ज्ञान कर सकेंगे।
- ❖ पांच समिति और तीन गुप्ति—इन आठ प्रवचनमाताओं को जान सकेंगे।
- ❖ क्षमा, मुक्ति आदि श्रमण के दस धर्मों से परिचित हो सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में मुख्य रूप से श्रमण के आचार और श्रमण के दस धर्मों का विवेचन किया गया है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की अखण्ड आराधना करना ही श्रमण का आचार है। क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव आदि दस धर्मों की सघन साधना करना भी श्रमण का धर्म है, जिनका विस्तृत विवेचन यहां किया जा रहा है।

श्रमणाचार (Conduct of Jain Monk)

भारतीय संस्कृति की दो मूल धाराएँ हैं—ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति। ब्राह्मण संस्कृति ने गृहस्थ आश्रम को विशेष महत्त्व दिया जबकि श्रमण संस्कृति ने श्रमण जीवन को अधिक महत्त्व दिया। जैन परम्परा में श्रमण ऐसे व्यक्ति को कहा गया है जिसकी प्रवृत्तियां श्रमणाचार की संज्ञा से अभिहित हो। भगवान महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया—श्रमणाचार और श्रावकाचार। उन्होंने कहा प्रत्येक साधक को पहले श्रमणाचार का ज्ञान कराना चाहिए, उसी के पालन का उपदेश देना चाहिए। यदि वह उसके पालन करने में असमर्थ हो तो उसे श्रावकाचार का उपदेश देना चाहिए। श्रमण का आचार महाव्रत की साधना है तथा श्रावक का आचार अणुव्रत की साधना है। जिनमें महाव्रतों का पालन करने की क्षमता हो वे महाव्रतों का पालन करें तथा जो शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अपने आपको असमर्थ पाते हैं, वे अणुव्रतों की साधना करें। अणुव्रतों की साधना करने वाला श्रावक भी इस सत्य को स्वीकार करता है कि मैं महाव्रतों का पालन करने में असमर्थ हूँ, इसलिए अणुव्रतों की साधना को स्वीकार कर रहा हूँ। अणुव्रतों की साधना करते हुए भी वह प्रतिदिन यह मनोरथ (इच्छा) करता है 'वह दिन कब आएगा जब मैं भी गृहस्थ धर्म से मुक्त हो, घरबार छोड़कर श्रमणधर्म को स्वीकार करूंगा।' इससे स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा में श्रमण जीवन को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

1.2 श्रमण का तात्पर्य (Meaning of Shraman)

श्रमण का अर्थ पापकारी समस्त प्रवृत्तियों (कार्यों) से विरति है। श्रमण का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—1. श्रमण, 2. समन और 3. शमन।

श्रमण—श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है। इसका अर्थ है—श्रम-परिश्रम। जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

समन—समन शब्द के मूल में सम है। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण है।

शमन—शमन शब्द का अर्थ है—अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। जो इन्द्रिय और मन पर संयम रखता है, जिसके कषाय शान्त होते हैं, वह श्रमण है।

1.3 श्रमण का आचार (Conduct of Jain Monk)

आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाए रखने के लिए व्रत, नियम आदि का पालन करना तथा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मर्यादा-अनुशासन से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की साधना करना ही श्रमण का आचार है।

❖ **पांच महाव्रत** — 1. अहिंसा महाव्रत, 2. सत्य महाव्रत, 3. अचौर्य महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य महाव्रत और 5. अपरिग्रह महाव्रत।

❖ **पांच समिति** — 1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. अदान-निक्षेप समिति, 5. उत्सर्ग समिति।

❖ **तीन गुप्ति** — 1. मनगुप्ति, 2. वचनगुप्ति और 3. कायगुप्ति।

1.4 महाव्रत (Great Vows)

महान् और व्रत — इन दो शब्दों से बने महाव्रत का अर्थ है — सर्वोच्च नियम, सार्वभौम नियम। महाव्रती साधु अहिंसा, सत्य आदि का पालन पूर्णरूप से करता है। उनके लिए किसी भी परिस्थिति में कोई अपवाद नही होता। महाव्रत पांच हैं—

1.4.1. अहिंसा महाव्रत (Non-violence)

पांच महाव्रतों में पहला महाव्रत है — अहिंसा। इसका दूसरा नाम प्राणातिपात-विरमण भी है। सब प्रकार की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। श्रमण को स्व और पर दोनों प्रकार की हिंसा से विरत होना होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा और हानि पहुंचाना पर-हिंसा है।

दसवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि श्रमण जान-बूझकर या अनजान में किसी भी प्राणी की हिंसा मन, वचन और शरीर से न स्वयं करे, न दूसरों से करवाये और न करने वाले का अनुमोदन करे। इस प्रकार श्रमण धर्म स्वीकार करते समय वह तीन करण और तीन योग से त्रस और स्थावर समस्त जीवों की हिंसा न करने का संकल्प स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है कि श्रमण को जीवन चलाने के लिए खाना-पीना, चलना-फिरना, श्वासोच्छ्वास जैसी क्रियाएँ करना अनिवार्य होता है। बहुत सावधानी रखते हुए भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा से सर्वथा बच पाना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में पूर्णरूप से अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के **'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** इस सूत्र से हो जाता है। प्रमादवश किसी के प्राणों का हनन करना हिंसा है। जब श्रमण का प्रमत्तयोग छूट जाता है तो प्राणों का अतिपात (हनन) होने पर भी उसे हिंसा का पाप नही लगता है। प्रमत्तयोग होने पर प्राणों का अतिपात न होने पर भी हिंसा होती है। अहिंसा का संबंध प्राण-वियोजन न करने मात्र से नहीं अपितु संयम से है। संयत प्रवृत्ति होने पर यदि किसी प्राणी का वध हो भी जाए तो वहां हिंसा नही। संयत प्रवृत्ति न होने पर यदि किसी प्राणी का वध न भी हो तो वहां पर हिंसा है। इस दृष्टि से अहिंसा की परिभाषा है—**'सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा'** अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति संयम अहिंसा है। दूसरे शब्दों में प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

1.4.2. सत्य महाव्रत (Truthfulness)

श्रमण का दूसरा महाव्रत है — सत्य। किसी भी परिस्थिति में असत्य नहीं बोलना सत्य महाव्रत है। श्रमण जीवनभर के लिए तीन करण और तीन योग से सब प्रकार के असत्य संभाषण का त्याग करता है। जैन आगमों में असत्य के चार प्रकार कहे गए हैं—

1. होते हुए नही कहना।
2. नही होते हुए हां कहना।
3. वस्तु कुछ और है और उसे कुछ और बता देना।
4. हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उपर्युक्त चारों प्रकार का असत्य भाषण श्रमण के लिए वर्जित है। सत्य का संबंध केवल वाणी से नहीं होता अपितु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से होता है। इस दृष्टि से सत्य के चार रूप होते हैं—शरीर की सरलता, मन की सरलता, वचन की सरलता और कथनी-करनी की समानता।

श्रमण साधक को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन दसवैकालिक सूत्र में मिलता है। वहां कहा गया है—अप्रिय, अहितकारी, पीड़ाकारी और कटु सत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे—काने को काना, अंधे को अंधा आदि नहीं कहना चाहिए।

क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि कारणों से व्यक्ति झूठ बोलता है। इन कारणों से बचने वाला असत्य भाषण से अपने आप बच जाता है। सत्य महाव्रत की साधना के लिए भाषा समिति का पूरा-पूरा विवेक होना चाहिए। भाषा की शुद्धि के लिए सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार—इन चार भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। सत्य और व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए तथा असत्य और मिश्रभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

1.4.3. अचौर्य महाव्रत (Non-stealing)

श्रमण का तीसरा महाव्रत है—अचौर्य। अचौर्य का मतलब है—चोरी नही करना, अदत्त वस्तु नही लेना। मालिक की आज्ञा के बिना, उसके दिये बिना श्रमण अपने आप कोई भी वस्तु ग्रहण नही करता। बिना अनुमति एक तिनका भी ग्रहण करना चोरी है। किसी भी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके स्वामी से पूछकर, उसके देने पर ही ग्रहण करे। जिस प्रकार श्रमण अदत्त वस्तु स्वयं ग्रहण नही करता, उसी प्रकार दूसरों से भी ग्रहण नहीं करवाता है और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता। वह तीन करण और तीन योग से चोरी न करने का जीवन भर के लिए संकल्प स्वीकार करता है।

स्थानांग सूत्र की टीका में चार प्रकार के अदत्त बताये गए हैं—1. स्वामी-अदत्त, 2. जीव-अदत्त, 3. तीर्थंकर-अदत्त और 4. गुरु-अदत्त।

1. स्वामी-अदत्त—जिस वस्तु का जो स्वामी है उसकी अनुमति के बिना वह वस्तु ग्रहण करना स्वामी-अदत्त है।

2. जीव-अदत्त—स्वामी के द्वारा दिये जाने पर भी स्वयं जीव की अनुमति के बिना उसे ग्रहण करना जीव अदत्त है, जैसे—फल-फूलों को ग्रहण करना, जल को ग्रहण करना आदि। फल-फूलों के जीवों ने अपने प्राणों के हनन करने की अनुमति नहीं दी है।

3. तीर्थंकर-अदत्त—तीर्थंकर भगवान ने जिस कार्य को करने की अनुमति नहीं दी है, उसका आचरण करना या उसको ग्रहण करना तीर्थंकर-अदत्त है।

4.गुरु-अदत्त—तीर्थंकर भगवान द्वारा अनुमति होने पर भीयदि गुरु की आज्ञा नहीं है तो उसे ग्रहण करना गुरु-अदत्त है।

इस प्रकार अचौर्य महाव्रत में बिना अनुमति अपने आप कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता है। पूर्ण प्रामाणिकता का नाम अचौर्य महाव्रत है।

1.4.4. ब्रह्मचर्य महाव्रत (Celibacy)

श्रमण का चौथा महाव्रत है—ब्रह्मचर्य महाव्रत। ब्रह्मचर्य में दो शब्द हैं—ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा और चर्य का अर्थ है—विचरण करना। ब्रह्मचारी व्यक्ति अपनी आत्मा में ही रमण करता है। श्रमण के लिए मैथुन का पूर्ण त्याग करना अनिवार्य है। उनके लिए मन, वचन एवं काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का पूर्ण निषेध है। ब्रह्मचर्य का मतलब केवल मैथुन (संभोग) से विरत होना ही नहीं है अपितु पांचों इन्द्रियों तथा मन को विषयों की आसक्ति से सर्वथा निवृत्त रखने से है।

जैन आगमों में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है—जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे देव, दानव, यक्ष आदि सभी नमस्कार करते हैं। सब तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य का अन्त:करण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.4.5. अपरिग्रह महाव्रत (Non-possession)

श्रमण का पांचवां व्रत है—अपरिग्रह महाव्रत। श्रमण को समस्त बाह्य (धन-धान्य, स्त्री, संपत्ति, पशु आदि) और आभ्यन्तर (क्रोध, मान आदि) परिग्रह का त्याग करना होता है। श्रमण मन, वचन और काय—तीनों से ही न स्वयं परिग्रह रखता है, न रखवाता है और न परिग्रह रखने का अनुमोदन करता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि श्रमण को भी जीवनोपयोगी तथा संयमोपयोगी पदार्थों का ग्रहण करना पड़ता है, तो वह पूर्णतया परिग्रह का त्याग कैसे कर सकता है? जीवन-निर्वाह के लिए आहार, पानी तथा संयम-निर्वाह हेतु वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरण लेने पड़ते हैं?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैन दर्शन के अनुसार परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य पदार्थों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु पदार्थ के प्रति होने वाली आसक्ति और मूर्च्छाभाव है। श्रमण जो वस्त्र, पात्र आदि रखते हैं, वे संयम की साधना में उपयोगी होने से रखते हैं, ममत्व या मूर्च्छाभाव से नहीं। श्रमण के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तुमात्र का संग्रह सर्वथा वर्जित है। मूर्च्छा का जहां तक प्रश्न है, वह न धर्मोपकरण के प्रति होनी चाहिए और न किसी अन्य वस्तु पर। शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है—**'अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं'** अर्थात् मुनि अपने शरीर पर भी ममत्व न करे, इसी मे अपरिग्रह महाव्रत की पूर्णता है। ये पांचों व्रत मुनि के लिए तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन और शरीर) से अनिवार्य रूप से पालनीय हैं, समाचरणीय हैं।

1.4.6. रात्रिभोजनविरमण व्रत (Renunciation of Night Eating)

इन पांच महाव्रतों के साथ-साथ मुनि के लिए रात्रिभोजन का भी निषेध है। दसवैकालिक सूत्र में इसे छठा महाव्रत कहा गया है। मुनि सम्पूर्ण रूप से रात्रिभोजन का त्याग करता है। रात्रिभोजन का निषेध अहिंसा महाव्रत की रक्षा एवं संयम की सुरक्षा दोनों ही दृष्टि से आवश्यक माना गया है। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया—मुनि सूर्य-अस्त हो जाने के बाद रात्रि में सभी प्रकार के आहार आदि के भोग की इच्छा मन से भी न करे। अहिंसा व्रत की साधना के लिए जहां रात्रिभोजन का त्याग अनिवार्य माना गया है, वहीं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रिभोजन का त्याग आवश्यक है।

1.5 अष्ट प्रवचनमाता (Eight Exercises for Meditation)

महाव्रतों की सुरक्षा और शुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। समिति और गुप्ति—दोनों का सम्मिलित नाम उत्तराध्ययन में 'प्रवचनमाता' दिया गया है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र इस रत्नत्रयी को प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा के लिए पांच समितियां और तीन गुप्तियां माता-स्थानीय हैं अत: इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है। जिस प्रकार माता बच्चे को जन्म ही नहीं देती, उनका पालन-पोषण करती है, रोग आदि होने पर उनका शोधन भी करती है उसी तरह समिति-गुप्तिरूप ये अष्ट प्रवचनमाताएँ श्रमण के सम्यक् चारित्र का पालन-पोषण करती हैं और उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुंचाने में सहयोगी बनती हैं। इन आठ प्रवचनमाताओं में सारा जिन-प्रवचन समा जाता है, इसलिए भी इन्हें माता कहा गया है।

1.6 समिति (Comportment)

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। श्रमण-जीवन में शरीर धारण के लिए अथवा संयम-निर्वाह के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनको विवेकपूर्वक, सम्यक् प्रकार से करना समिति है। यद्यपि श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है, फिर भी जीवन-चर्या को चलाने के लिए चलना, बैठना, उठना, बोलना, भोजन करना, उपकरण आदि उठाना और रखना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों को जागरूकता के साथ संयमपूर्वक सम्पन्न करना समिति कहलाता है। समिति के पांच भेद हैं—

1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. आदान-निक्षेप समिति, 5. उत्सर्ग समिति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.6.1 ईर्या समिति (Carefulness of Movement)

इसका सामान्य अर्थ है—गमनागमन विषयक जागरूकता। ईर्या का अर्थ है—गमन। गमन विषयक सद्प्रवृत्ति ईर्या समिति है। कैसे चलना? चलते समय किन बातों का ध्यान रखना, यह विवेक ईर्या समिति में दिया जाता है। श्रमण के चलने की क्रिया इस प्रकार की हो कि उसमें यथासंभव किसी भी प्राणी की हिंसा न हो। उसे युग-प्रमाण भूमि (शरीरपरिमाण भूमि) को आंखों से देखते हुए, संयमपूर्वक चलना चाहिए, क्योंकि चलते समय दृष्टि को यदि बहुत दूर रखा जाएगा तो सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देंगे और यदि दृष्टि को अत्यन्त निकट रखा जाएगा तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों की हिंसा से भी बचा नहीं जा सकेगा। इसलिए शरीर-परिमाण क्षेत्र (चार हाथ भूमि) देखकर चलने का विधान है। चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्य करने का भी निषेध रखना चाहिए।

1.6.2 भाषा समिति (Carefulness of Speaking)

विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा-समिति है। मुनि का काम सर्वथा मौन रखने से नही चल सकता। उसे अनेक कारणों से अनेक प्रसंगों पर बोलना पड़ता है किन्तु आवश्यकतावश बोलते समय क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा इन आठ दोषों से रहित हो भाषा का प्रयोग करना चाहिए। मेरे वचनों से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे, इस उद्देश्य से हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। बोलने से पहले और बोलते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह विवेक भाषा समिति में दिया जाता है। जैसे—चलते समय नहीं बोलना चाहिए, रात्रि में एक प्रहर के बाद जोर से नहीं बोलना चाहिए, कर्कश और कठोर भाषा नहीं बोलनी चाहिए। हमेशा सत्य वचन, प्रिय वचन और हितकारी वचन बोलना चाहिए। इस प्रकार भाषा समिति सत्य महाव्रत के पालन करने में सहायक होती है।

1.6.3 एषणा समिति (Carefulness of Begging)

आहार या भिक्षाचर्या का विवेक एषणा समिति कहलाता है। एषणा का सामान्य अर्थ—आवश्यकता, चाह, गवेषणा, खोज करना आदि है। जीवन को चलाने के लिए भोजन, पानी, स्थान आदि की आवश्यकता होती है। श्रमण अपनी आवश्यकता की पूर्ति याचना के द्वारा करता है। आहार, पानी, वस्त्र, स्थान आदि की खोज या याचना विवेकपूर्वक करना एषणा समिति है। मुनि को निर्दोष आहार, पानी आदि वस्तुओं का अन्वेषण करना चाहिए। उतना ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिए, जिससे दाता को कष्ट न हो। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को बिना कष्ट पहुंचाए थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुनि दाता को कष्ट न पहुंचे इस बात को ध्यान में रखकर आहार आदि ग्रहण करता है। एषणा के तीन भेद हैं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा।

1. **गवेषणा**—दोषरहित शुद्ध आहार की खोज करना गवेषणा है।

2. **ग्रहणैषणा**—दोषरहित शुद्ध आहार उपलब्ध होने पर उसे ग्रहण करते समय जिन-जिन नियमों का पालन करना होता है, वह ग्रहणैषणा है।

3. **परिभोगैषणा**—उपलब्ध आहार का भोग करते समय जिन-जिन नियमो का पालन करना होता है,वह परिभोगैषणा है।

आहार, पानी आदि की एषणा करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह विवेक एषणा समिति में दिया जाता है। एषणा के नियमों को समझकर संयमी जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। उनके ग्रहण और उपयोग करने में किसी जीव की हिंसा या विराधना न हो, यह विवेक रखना ही एषणा समिति है।

1.6.4 आदान-निक्षेप समिति (Carefulness in Useing and Laying)

आदान का अर्थ है—वस्तु को उठाना, ग्रहण करना तथा निक्षेप का अर्थ है—वस्तु को नीचे रखना। किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय अर्थात् उठाते समय और रखते समय सावधानी रखना आदान-निक्षेप समिति है। किसी भी वस्तु को उठाते या रखते समय स्थान आदि को देखकर इस प्रकार रखना चाहिए कि सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा न हो। वस्तु को उठाते और रखते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए यह विवेक आदान-निक्षेप समिति में दिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाता है। जैसे बिना देखे सहसा किसी वस्तु को नहीं उठाना, अस्थिर या चंचल चित्त से नहीं उठाना। अच्छी तरह देखकर, प्रमार्जित कर, उसके बाद उपयोग में लेना और कार्य पूर्ण होने पर जागरूकतापूर्वक यथास्थान पर रखना आदान-निक्षेप समिति है।

1.6.5. उत्सर्ग समिति (Carefulness in Disposal of Excreta)

उत्सर्ग का अर्थ है—छोड़ना। आहार के साथ निहार का क्रम भी चलता है। मुनि द्वारा त्यागने योग्य शारीरिक मल, मूत्र, कफ, नाक और शरीर का मैल, अपथ्य आहार आदि अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन एकान्त तथा जीव-जन्तु से रहित स्थान में करना उत्सर्ग समिति है। अनुपयोगी वस्तुओं का उत्सर्ग कैसे स्थान में किस प्रकार करना चाहिए, यह विवेक उत्सर्ग समिति में दिया जाता है। जैसे—मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग ऐसे सार्वजनिक स्थानो पर न करें, जिससे लोकोपवाद हो सकता है। अपथ्य आहार आदि ऐसे स्थान पर न डालें जहां चींटियाँ आने की संभावना हो। अनुपयोगी वस्तु का परिष्ठापन (उत्सर्ग) करने के बाद 'वोसिरामि' (इस वस्तु से मेरा अब कोई प्रयोजन नहीं है) शब्द को तीन बार बोले। इस प्रकार एकान्त, जीव-जन्तु रहित भूमि पर अनुपयोगी वस्तु का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।

1.7 गुप्ति (Self Protection)

गुप्ति शब्द गोपन से बना है, जिसका अर्थ है—खींच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति का अर्थ रक्षा भी है। मन, वचन, काया के साथ जब गुप्ति का योग होता है तो उसका अर्थ है—मन, वचन, काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा तथा कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन करना। तत्त्वार्थसूत्र में **'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः'** कहकर योग (प्रवृत्ति) के सम्यक् निग्रह को गुप्ति कहा गया है। जैसे खेत की सुरक्षा के लिए बाड़ तथा नगर की रक्षा के लिए प्राकार और खाई होती है, इसी तरह पापों के निरोध के लिए गुप्तियो का विधान किया गया है। योग की त्रिविधता के कारण गुप्ति के भी तीन भेद कहे गए हैं—

1. मनोगुप्ति,
2. वचनगुप्ति,
3. कायगुप्ति।

1.7.1. मनोगुप्ति (Mind Control)

मन का सर्वथा निग्रह करना अथवा मन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना मनोगुप्ति है। संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है।

1. **संरंभ**—किसी को मारने की इच्छा करना संरंभ है।
2. **समारंभ**—मारने के साधनों पर विचार करना समारंभ है।
3. **आरंभ**—मारने की क्रिया को प्रारम्भ करने का विचार करना आरंभ है।

इस प्रकार मानसिक संरंभ, समारंभ और आरंभ से मन को हटा लेना मनोगुप्ति है।

1.7.2. वचनगुप्ति (Speech Control)

वचन का सर्वथा निग्रह करना अथवा वचन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना वचनगुप्ति है। संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए वचन को रोकना वचनगुप्ति है।

संरंभ—दुष्ट वचन बोलने का विचार करना वाचिक संरंभ है।

समारंभ—दुष्ट वचन बोलने की तैयारी करना वाचिक समारंभ है।

आरंभ—दुष्ट वचन बोल देना वाचिक आरंभ है।

इस प्रकार वाचिक संरंभ, समारंभ और आरंभ से वचन को हटा लेना वचनगुप्ति है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.7.3. कायगुप्ति (Body Control)

शरीर की प्रवृत्ति का सर्वथा निग्रह करना अथवा शरीर की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना कायगुप्ति है। संरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए शरीर को रोकना कायगुप्ति है।

सरंभ — प्रहार करने की दृष्टि से लाठी, मुष्टि आदि उठाना कायिक सरंभ है।
समारंभ — दूसरों के लिए पीड़ाकारक मुष्टि आदि का प्रयोग करना कायिक समारंभ है।
आरंभ — प्राणी वध में शरीर की प्रवृत्ति करना कायिक आरम्भ है।

इस प्रकार कायिक सरंभ, समारंभ और आरम्भ से शरीर को हटा लेना कायगुप्ति है।

जैन दर्शन के अनुसार गुप्ति निवृत्ति प्रधान तथा समिति प्रवृत्ति प्रधान होती है। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अत: प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति का अंश रहता है। अशुभ भावों से निवृत्ति का अर्थ शुभ भावों में प्रवृत्ति करना है और शुभ भावों में प्रवृत्ति का अर्थ अशुभ भावों से निवृत्ति होता है। पूर्ण निवृत्ति की अवस्था चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में प्राप्त होती है।

1.8 गुप्ति के लाभ (Benifits of Self Control)

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा — भंते! गुप्ति की साधना से जीव को क्या प्राप्त होता है? भगवान ने कहा — गौतम! मनोगुप्ति के अभ्यास से जीव एकाग्रता को प्राप्त करता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति मन से कभी भी अशुभ संकल्प नही करता, सदा शुभ संकल्प करता है। वचनगुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है, विचार समाप्त हो जाते हैं तथा कायगुप्ति से जीव आश्रव का निरोध और संवर को प्राप्त करता है। इस प्रकार पांच समिति और तीन गुप्ति — ये अष्ट प्रवचनमाताएँ श्रमण जीवन का आधार हैं। इसके आधार पर वह पांच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है। और समूचे आचार को विशुद्ध बना सकता है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की आजीवन अखण्ड आराधना करना ही श्रमण का आचार-श्रमणाचार है।

1.9 धर्म (Righteousness)

जैनदर्शन में विविध दृष्टियों से धर्म पर विचार किया गया है पर यहां धर्म से तात्पर्य मानव के विचार और आचार को विशुद्ध बनाने वाले तत्त्व से है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास (मोक्ष) की ओर ले जाने वाली समस्त क्रियाएँ धर्म हैं। जैन सिद्धान्त दीपिका में भी **'आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः'** आत्मशुद्धि के साधनों को धर्म कहा गया है। दसवैकालिक सूत्र में अहिंसा, संयम और तप से युक्त धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना गया है। धर्म वह तत्त्व है, जो प्राणियों को संसार के दु:ख से उठाकर उत्तम सुख को धारण कराता है। धर्म के महत्त्व को बताते हुए कहा गया — जन्म और मृत्यु के तेज प्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, शरण है।

1.10 धर्म के प्रकार (Types of Righteousness)

आत्मशुद्धि के साधन का धर्म कहते हैं। वे साधन अनेक हो सकते हैं, इस दृष्टि से धर्म के भी अनेक प्रकार बताये गए हैं। संक्षेप में एक अहिंसा धर्म है और विस्तार में जाएं तो दस धर्म हो जाते हैं —

1. क्षमा
2. मुक्ति
3. आर्जव
4. मार्दव
5. लाघव
6. सत्य
7. संयम
8. तप
9. त्याग
10. ब्रह्मचर्य।

इन दस धर्मों को उत्तम धर्म कहा जाता है। ये दस धर्म उत्तम धर्म कहलाने योग्य तभी होते हैं जब ये आत्मशुद्धिकारक तथा पापनिवारक होते हैं। इन दस धर्मों का विधान श्रमण के लिए किया गया है क्योंकि श्रमणों के द्वारा ये निश्चित रूप से आचरणीय होते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि ये दूसरों के लिए आचरणीय नहीं हैं। सम्यक्दृष्टि श्रावकों को भी संवर और निर्जरा की साधना के लिए इन क्षमा आदि धर्मों का पालन करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.10.1 क्षमा (Forgiveness)

दस धर्मों में प्रथम धर्म क्षमा है। क्रोध आदि की उत्पत्ति के साक्षात कारण उपस्थित होने पर अल्पमात्र भी क्रोध नहीं करना तथा मन में भी क्रोध के भाव नहीं लाना उत्तम क्षमा है। जैन परम्परा में अपराधी को भी क्षमा करना तथा अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगना साधक का परम कर्त्तव्य माना गया है। जैन श्रमण प्रतिदिन यह उद्घोष करता है—

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, वे सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है, किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। साधक क्रोध, रोष, आवेश के कारण क्षमा रूपी आत्म-स्वभाव को भूल जाता है, जिसके कारण वह क्षमा के उत्तम अवसर को चूक जाता है।

क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोधनिग्रह आदि शब्द एकार्थक हैं। दसवैकालिक सूत्र में मुनि के लिए कहा गया—**'पुढवीसमे मुणी हवेज्जा'।** मुनि पृथ्वी के समान सहनशील हो। पृथ्वी को कोई खोदता है, कोई उस पर थूकता है, कोई मलोत्सर्ग गंदगी फैलाता है तो कोई पृथ्वी को माता समझकर मस्तक झुकाता है। पृथ्वी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को समभाव से सहन करती है। उसी प्रकार मुनि भी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को समभावपूर्वक सहन करे।

1.10.2 मुक्ति (Release from greed)

दस धर्मों में दूसरा धर्म मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ है—निर्लोभता। शरीर और पदार्थ जगत् के प्रति अनासक्ति। इसका दूसरा नाम शौच भी उपलब्ध होता है। **'शुचेर्भावः शौचम्'** सामान्यतया शौच का अर्थ दैहिक पवित्रता से लिया जाता है, किन्तु जैन परम्परा में शौच का अर्थ मानसिक पवित्रता से लिया गया है। इसका संबंध लोभ कषाय से है। लोभ के कारण व्यक्ति की पवित्रता नष्ट होती है। चित्त कलुषित बनता है। लोभ के कारण व्यक्ति की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण हो सकता है किन्तु तृष्णा जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। तृष्णा जीर्ण होने पर ही मोक्ष का द्वार खुलता है। मुक्ति धर्म की साधना से चित्त की शुद्धि होती है, तृष्णा समाप्त होती है अतः शरीर और पदार्थ जगत् के प्रति आसक्ति न रखना ही उत्तम मुक्ति या शौच धर्म है।

1.10.3. आर्जव (Straight-forwardness)

क्षमा और मुक्ति की भांति आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। **'ऋजोर्भावः आर्जवम्'** ऋजुता अर्थात् सरलता का भाव ही आर्जव है। मन, वचन और काय से कपटपूर्ण भावों का सर्वथा अभाव तथा ऋजु (सरल) भावों का सद्भाव आर्जव धर्म है।

माया के कारण व्यक्ति में जटिलता, कुटिलता आती है। मायावी व्यक्ति सोचता कुछ है, बोलता कुछ है और करता कुछ है। उसके मन, वचन, काया में एकरूपता नहीं रहती। उसका व्यवहार वक्र (टेढ़ा) होता है। सरलता और वक्रता को लेकर ठाणं सूत्र में चार विकल्प बनाये गए हैं—

- ❖ कुछ व्यक्ति बाहर से सरल पर भीतर से वक्र होते हैं।
- ❖ कुछ व्यक्ति बाहर से वक्र पर भीतर से सरल होते हैं।
- ❖ कुछ व्यक्ति बाहर से वक्र और भीतर से भी वक्र होते हैं।
- ❖ कुछ व्यक्ति बाहर से सरल और भीतर से भी सरल होते हैं।

इनमें चौथा विकल्प ही मुनि के लिए अनुकरणीय है। उसे भीतर और बाहर दोनों से सरल बनने का प्रयास करना चाहिए। उत्तम आर्जव की प्राप्ति के लिए चार बातें अनिवार्य हैं—काया की ऋजुता, भाषा की ऋजुता, भावों की ऋजुता और त्रिविध योगों की अविसंवादिता (एकरूपता)।

ऋजुता (सरलता) से व्यक्ति माया पर विजय प्राप्त कर आर्जव धर्म को प्राप्त करता है। आर्जव धर्म को प्राप्त करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वाला व्यक्ति अनाचार का सेवन करके उसे छुपाता नहीं है और न ही अस्वीकार करता है, क्योंकि वह मानता है कि गलती होना इन्सान का स्वाभाविक लक्षण है। गलती करके उसे स्वीकार करना आर्जव धर्म है। इस प्रकार आर्जव धर्म की साधना पवित्रता की साधना है।

1.10.4 मार्दव (Gentleness)

दस धर्मों में चौथा धर्म है—मार्दव। आर्जव की भांति मार्दव भी आत्मा का निज स्वभाव है। **'मृदोर्भाव: मार्दवम्'** मार्दव का अर्थ है—मृदुता, कोमलता। मान कषाय के कारण व्यक्ति की मृदुता समाप्त हो जाती है, जिससे वह अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझने लगता है। जैन परम्परा में जाति, बल, कुल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और सत्ता—ये आठ मद माने गए हैं। इनके कारण व्यक्ति के भीतर अहंकार पैदा होता है। उत्तम ज्ञान, तप, बल आदि होने पर भी अपनी आत्मा को मान कषाय से मलिन न होने देना ही उत्तम मार्दव है।

मार्दव धर्म की प्राप्ति के लिए पहली शर्त है शरीर आदि पर-पदार्थों के प्रति एकत्व बुद्धि को छोड़ना। शरीर के साथ एकत्व बुद्धि होने पर ही जाति, कुल, बल आदि का अहंकार आता है। मार्दव धर्म के प्रकटीकरण के लिए मन, वचन और शरीर—तीनों में मृदुता होना आवश्यक है। मन के मृदु होने पर वैचारिक कठोरता नष्ट होती है। वचन के मृदु होने पर व्यक्ति सबके लिए प्रिय बनता है। शरीर के मृदु होने पर व्यक्ति किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाता। इस प्रकार साधक मार्दव धर्म की साधना से मान कषाय पर विजय प्राप्त करता है।

1.10.5 लाघव (Lightness)

लाघव का अर्थ है—हल्कापन। इसका दूसरा नाम आकिंचन धर्म भी है। जब तक व्यक्ति बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर अकिंचन नहीं बनता तब तक लाघव धर्म की साधना संभव नहीं हो पाती। अकिंचन का अर्थ है—धन, धान्य, शरीर आदि बाह्य परिग्रह तथा कषाय, कर्म आदि आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना। इनके प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करना। जिस प्रकार भारी चीज को तालाब में फेंकने पर वह नीचे डूब जाती है तथा हल्की चीज सदैव सतह पर तैरती रहती है। उसी प्रकार जो व्यक्ति परिग्रह के भार से, उसके प्रति मूर्च्छा और आसक्ति के भार से भारी होता है। वह संसार में डूबा रहता है तथा इनसे रहित व्यक्ति संसार से मुक्त होता है।

जीवन को चलाने के लिए परिग्रह को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा जा सकता। वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि आवश्यक परिग्रह (वस्तुएँ) रखना होता है। परिग्रह की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए जैन दर्शन में कहा गया—'वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है। किन्तु उसके संग्रह की इच्छा, उस पर ममत्व और मूर्च्छा परिग्रह है। लाघव धर्म की साधना करने वाले को संयमोपयोगी आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण नहीं रखने चाहिए। आवश्यक वस्तुओं का भी धीरे-धीरे संयम करना चाहिए तथा उन पर ममत्व बिल्कुल ही नहीं करना चाहिए।

1.10.6 सत्य (Truthfulness)

जो तत्त्व जैसा है उसको उसी रूप में समझना और उसका उसी रूप में कथन करना सत्य धर्म है। जैन परम्परा में सत्य के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया गया है। महाव्रतों में उसे द्वितीय महाव्रत तथा समिति-गुप्ति में भी उसे द्वितीय स्थान पर रखा गया है। गुप्ति में बोलने का निषेध है तथा समिति में कैसे बोलना चाहिए इसका विवेक है। लेकिन सत्य का सम्बन्ध केवल वचन (बोलने और न बोलने) तक ही सीमित नहीं है। सत्य आत्मा का धर्म है। वचन और शरीर तो उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इस प्रकार जो तत्त्व जैसा है, उसे वैसा ही जानना और उसी रूप में राग-द्वेष से रहित होकर वीतराग भाव में परिणत होना सत्य धर्म है। सत्य बोलना साधक का जीवन-व्रत है। जब यह जीवन व्रत जीवन के कण-कण में रम जाता है तो वह सत्य धर्म हो जाता है।

1.10.7 संयम (Self-Restraint)

सम-सम्यक् और यम-नियंत्रण को कहते हैं। सम्यक् प्रकार से इन्द्रिय, मन आदि का नियंत्रण करना संयम है। पांच महाव्रतों को धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना तथा पांच इन्द्रियों के जीतने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को संयम कहा गया है। संयम ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। संयम के महत्त्व को बताते हुए लिखा गया कि जो मुनि संयम में रत है वह देवलोक के सुखों का भी अतिक्रमण कर देता है। संयम की साधना से मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार की समस्याओं को समाधान मिलता है।

स्थानांग सूत्र में मन संयम, वचन संयम, काय संयम और उपकरण संयम—ये चार प्रकार के संयम बताये गए हैं। सतरह प्रकार के संयम का भी उल्लेख मिलता है।

1.10.8 तप (Penance)

कर्म-ग्रंथियों को तपाने वाला अनुष्ठान तप धर्म है। तप के दो भेद किये गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये छः बाह्य तप हैं।

आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तर तप हैं। इनका विस्तृत विवेचन निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत किया गया है।

1.10.9 त्याग (Renunciation)

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करके बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ना त्याग धर्म है। बाह्य विषयों और पदार्थों का त्याग द्रव्य त्याग है तथा उन विषयों और पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति, मूर्च्छा का त्याग भाव त्याग है। त्याग धर्म के द्वारा ही आत्मा में वैराग्य बढ़ता है। त्याग ही संयम का मूल आधार है।

1.10.10 ब्रह्मचर्य (Celibacy)

ब्रह्म शब्द आत्मा का वाचक है। आत्मा में विचरण करना ही ब्रह्मचर्य धर्म है। यह आध्यात्मिक अनुभूति का प्रथम सोपान है। मानव के भीतर स्थित सुप्त शक्तियों को जागृत करने का सफल उपाय है। कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। अब्रह्मचर्य को किंपाकफल की उपमा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार किंपाक का फल खाने में अच्छा लगता है किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। उसी प्रकार कामभोग भोगते समय अच्छे लगते हैं किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता है।

जब इन्द्रियों का प्रवाह अन्तर्मुखी बनता है तब ब्रह्मचर्य की साधना होती है। इन्द्रियों का अपनी विषयों की ओर प्रवाहित होना अब्रह्मचर्य है तथा इन्द्रियों को आत्म-स्वरूप में लीन करना ब्रह्मचर्य धर्म है।

1.11 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. श्रमण किसे कहते हैं?
2. समिति किसे कहते हैं?
3. अष्ट प्रवचनमाता के नाम लिखें?
4. गुप्ति किसे कहते हैं?
5. दस धर्मों के नाम लिखें?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. श्रमणाचार पर एक निबन्ध लिखें?
2. श्रमण के दस धर्मों का विवेचन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई 2.2 षडावश्यक, गुणस्थान, लेश्या
(Six Essential Duties, Stages of Spiritual Development, Aural Coloration)

संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 षडावश्यक
2.3 आवश्यक क्या है
2.4 षडावश्यक के क्रम की वैज्ञानिकता
2.5 आवश्यक के अंग
  2.5.1 सामायिक
  2.5.2 चतुर्विंशतिस्तव
  2.5.3 वंदना
  2.5.4 प्रतिक्रमण
  2.5.5 कायोत्सर्ग
  2.5.6 प्रत्याख्यान
2.6 गुणस्थान की परिभाषा
2.7 गुणस्थान की चौदह अवस्थाएँ
2.8 गुणस्थान का कालमान
2.9 लेश्या की परिभाषा
2.10 लेश्या के प्रकार
  2.10.1 कृष्णलेश्या
  2.10.2 नीललेश्गा
  2.10.3 कापोतलेश्या
  2.10.4 तेजसलेश्या
  2.10.5 पद्मलेश्या
  2.10.6 शुक्ललेश्या
2.11 बोधप्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

❖ षडावश्यक से परिचित हो सकेंगे।
❖ आत्म-विकास की चौदह क्रमिक अवस्थाओं को जान सकेंगे।
❖ भावों के आधार पर निर्मित होने वाली छ: प्रकार की लेश्याओं का ज्ञान कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

श्रमण और श्रावक दोनों के लिए प्रतिदिन 'आवश्यक' करने का विधान है। अवश्य करणीय होने के कारण ही इसे आवश्यक कहा गया है। आवश्यक आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया है। आत्मा की शुद्धि सबमें समान नहीं होती। कर्मों के कारण तरतमभाव बना रहता है। तरतमभाव के आधार पर ही आत्मविकास की चौदह क्रमिक अवस्थाएँ मानी गई हैं, जिन्हें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गुणस्थान कहा जाता है। इस आध्यात्मिक विकासक्रम में श्रमण का स्थान छठे गुणस्थान में है। श्रमण अपनी साधना के द्वारा विकास करते हुए चौदहवें गुणस्थान की भूमिका पर पहुंच जाता है और फिर सदा के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। आध्यात्मिक विकास का आधार हमारी भावधारा बनती है, जिसे लेश्या कहते हैं। प्रशस्त लेश्या होने पर आत्मविकास होता है। अप्रशस्त लेश्या होने पर आत्मा के गुणों का ह्रास होता है। इस इकाई में विशेष रूप से षडावश्यक, चौदह गुणस्थान तथा छ: लेश्याओं का विवेचन किया जा रहा है।

2.2 षडावश्यक (Six Essential Duties)

'अवश्यकसूत्र' जैन साधना का मूल प्राण है। यह आत्मशुद्धि और दोष-परिमार्जन की प्रक्रिया है। जिस प्रकार किसी स्थान या वस्तु का सावधानी पूर्वक परिमार्जन (सफाई) न किया जाये तो उस स्थान या वस्तु पर मैल की परतें जम जाती हैं, उसी प्रकार प्रमादवश हुए दोषों का यदि परिमार्जन (शुद्धि) न किया जाये तो हमारी आत्मा भी मलिन बन जाती है। आवश्यकसूत्र दोष-परिमार्जन और आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है।

2.3 आवश्यक का अर्थ (Meaning of Essential Duty)

'आवश्यक' जैन आचार मीमांसा का एक प्रमुख अंग है। **'अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्'** जो अवश्य करणीय है उसे आवश्यक कहा जाता है। जैसे वैदिक परम्परा में 'सन्ध्या' है, बौद्ध परम्परा में 'उपासना' है, यहूदी और ईसाइयों में 'प्रार्थना' है, इस्लाम धर्म में 'नमाज' है, वैसे ही जैन धर्म में दोषों की शुद्धि और गुणों की वृद्धि के लिए आवश्यक सूत्र है। यह आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्‌गुणों की ओर ले जाता है तथा गुणों से शून्य आत्मा को गुणों से युक्त करता है। जैन आचार मे श्रमण और श्रावक दोनों के लिए ही इसे अवश्य करणीय बताया गया है। श्रमण के लिए तो प्रात:काल और सायंकाल दोनों ही समय यह अवश्य करणीय है, इसका कोई अपवाद नहीं है। श्रावक के लिए भी यह अवश्य करणीय है, किन्तु जिनके लिए प्रतिदिन यह संभव नही हो सकता वे पक्ष के अंत में पाक्षिक, चातुर्मास के अंत में चातुर्मासिक और वर्ष के अंत में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं।

2.4 आवश्यक के अंग (Constituents of Essential Duty)

आवश्यक की साधना उसके छह अंगों के द्वारा की जाती है, इसलिए इसे षडावश्यक कहा जाता है। आवश्यक के छह अंग निम्नलिखित हैं—

1. **सामायिक**—समभाव की साधना करना।
2. **चतुर्विंशतिस्तव**—चौबीस तीर्थंकर की स्तुति करना।
3. **वंदना**—सद्‌गुरुओं को नमस्कार करना।
4. **प्रतिक्रमण**—दोषों की आलोचना करना।
5. **कायोत्सर्ग**—शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना।
6. **प्रत्याख्यान**—आहार आदि का त्याग करना।

2.5 षडावश्यक के क्रम की वैज्ञानिकता (Scientific Order of Esential Duties)

षडावश्यक के इन सभी अंगों का क्रम वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है। सबसे पहला आवश्यक है—सामायिक। समभाव की साधना से जब चित्तवृत्ति स्वच्छ हो जाती है तभी व्यक्ति तीर्थंकरों की स्तुति कर सकता है। उनके गुणों में लीन हो सकता है, अत: सामायिक के बाद दूसरा क्रम चतुर्विंशतिस्तव का रखा गया है। तीर्थंकरों की स्तुति से उसके मन में भक्तिभाव पैदा होता है और वह गुरुजनों, मुनिजनों के चरणों में वंदन-नमस्कार करता है। वंदना करने से विनम्रता बढ़ती है तथा सरलता आती है। सरल व्यक्ति ही अपने कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अत: वंदना के बाद प्रतिक्रमण का क्रम रखा गया है। अतीत के दोषो की शुद्धि हो जाने के बाद ही तन और मन की स्थिरता सध सकती है अत: प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग का विधान किया गया है। मन की चंचलता दूर होने पर ही व्यक्ति प्रत्याख्यान कर सकता है। चंचल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मन से प्रत्याख्यान (त्याग) कर पाना संभव नही है। अत: कायोत्सर्ग के बाद ही प्रत्याख्यान का क्रम दिया गया है। इस प्रकार इन छ: आवश्यकों का क्रम कारण-कार्यभाव की शृंखला पर आधारित होने से पूर्ण वैज्ञानिक क्रम है। इन छहों आवश्यक का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

2.5.1 सामायिक (Equanimity)

छ: आवश्यक में प्रथम आवश्यक है—सामायिक। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए अवश्य करणीय है। यह समभाव की साधना है। समभाव की साधना के लिए आवश्यक है सावद्य (पापकारी) प्रवृत्तियों से विरत होना। श्रमण जीवनभर के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता है। श्रावक जीवनभर के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। वह सामायिक का अभ्यास करता है। एक सामायिक का कालमान 48 मिनिट है। वह एक मुहूर्त्त (48 मिनिट) के लिए सावद्ययोग से विरत रहने का संकल्प करता है। अठारह पाप सावद्ययोग हैं। इन अठारह पापों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

पहला वर्ग—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह।

दूसरा वर्ग—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष।

तीसरा वर्ग—कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति।

चौथा वर्ग—माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य।

इनका विवेचन नव तत्त्वों में 'पाप तत्त्व' के अन्तर्गत किया गया है।

भगवती सूत्र के अनुसार तुंगिया नगरी के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है? उत्तर देते हुए कहा गया—आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। आत्मा जब पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होती है, तभी सामायिक होती है। अत: सामायिक करते समय साधक के समक्ष एक मानसिक चित्र बना रहना चाहिए कि मुझे इन अठारह पापों का सेवन नहीं करना है। हर परिस्थिति में समभाव रखना है। सामायिक के समय स्वाध्याय, ध्यान, अनुप्रेक्षा, जप आदि के प्रयोग करने चाहिए तथा सामायिक के दोषों से बचना चाहिए।

सामायिक के दोष (Defect of Samayik)

सामायिक के कुल 32 दोष बताये गये हैं। 10 मन के दोष हैं, 10 वचन के दोष हैं और 12 काया के दोष हैं।

मन के दोष—मन में यश-कीर्ति की भावना से सामायिक करना, अपने आपको धार्मिक दिखाने की भावना से सामायिक करना, मैं उच्च कुल का हूँ, यदि सामायिक नहीं करूंगा तो लोग क्या कहेंगे इस भय से सामायिक करना। मैं सामायिक कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नही मिलेगा इस संशय से सामायिक करना आदि मन के दोष हैं।

वचन के दोष—सामायिक में कुत्सित वचनों का प्रयोग करना, कलह उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग करना, सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना, बिना विचारे सहसा असत्य वचन बोलना आदि वचन के दोष हैं।

काया के दोष—सामायिक में अस्थिर होकर बैठना, पापकारी प्रवृत्तियां करना, दीवार का सहारा लेकर आराम से बैठना, बैठे-बैठे हाथ-पैर फैलाना, शरीर से मैल उतारना, शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना, सामायिक में नींद लेना आदि काया के दोष हैं।

सामायिक का महत्त्व (Importance of Equanimity)

जैन धर्म में सामायिक (समभाव) की साधना को उत्कृष्ट साधना माना गया है। इसे चौदह पूर्वों का सार या सम्पूर्ण जिनवाणी का सार कहा गया है। जिस प्रकार दूध का सार घी, तिल का सार तेल है उसी प्रकार साधना का सार सामायिक है। आचारांग सूत्र में समता को सबसे बड़ा धर्म बताया गया है। एक घंटे तक सामायिक की साधना करने वाला श्रावक भी उतने समय के लिए श्रमणवत् (साधु) हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.2 चतुर्विंशतिस्तव (Praying of 24 Tirthankars)

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। प्रथम सामायिक आवश्यक में साधक समस्त सावद्ययोगों का त्याग कर देता है किन्तु चंचल मन को स्थिर करने के लिए उसे किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। आत्म-साधक के लिए वीतराग तीर्थंकर देव ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन हैं, क्योंकि उसका ध्येय भी वीतरागता है। ऋषभ से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा आवश्यक है।

जैनदर्शन के अनुसार केवल तीर्थंकरों की स्तुति से मोक्ष या समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं प्रयास न करे। तीर्थंकर तो साधना-मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है किन्तु प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जब तक जहाज गति नहीं करता, वह उस पार नहीं पहुंच सकता। उसी प्रकार तीर्थंकर साधना करने वाले साधक का मार्ग प्रशस्त करने वाले प्रकाश.स्तम्भ हैं।

स्तुति (स्तव) के भेद

मन, वचन और काय के भेद से स्तुति के तीन भेद हैं—

मन से चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का स्मरण करना मनस्तव है।

वचन से **लोगस्स उज्जोयगरे.......** का उच्चारण कर तीर्थंकरों की स्तुति बोलना वचनस्तव है।

हाथ जोड़कर तीर्थंकर भगवान को नमस्कार आदि करना कायकृतस्तव है।

स्तुति के लाभ (Benifits of Praying)

तीर्थंकरों की स्तुति करने से अनेक लाभ होते हैं। स्तुति से दर्शन विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि होने से भावों की शुद्धि और मन की निर्मलता बढ़ती है। तीर्थंकर जैसा बनने की प्रेरणा मन में जागती है।

2.5.3 वंदना (Respecting Ascetics)

तीसरा आवश्यक वंदना है। साधना के आदर्श रूप तीर्थंकर होते हैं, किन्तु साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु होते हैं। गुरु के प्रति विनय करना वंदना आवश्यक है। यह मन, वचन, काय की वह प्रशस्त वृत्ति है, जिसमें साधक आचार्य, गुरु, ज्येष्ठ श्रमणों के प्रति श्रद्धा और बहुमान प्रकट करता है। गुरु वही होता है, जिसका चारित्र उत्कृष्ट होता है, जो सचमुच वन्दनीय होता है।

वंदना विधि—जिन आचार्य, श्रमण आदि को वन्दना की जाती है, उनमें तथा वन्दनकर्त्ता के मध्य एक हाथ का अन्तराल होना चाहिए। फिर वन्दनकर्त्ता को अपने मस्तक से गुरु, आचार्य आदि के चरणों में बाधा न पहुंचाते हुए वन्दन करना चाहिए। जिस वंदन में भक्ति और श्रद्धा नहीं होती केवल प्रलोभन और प्रतिष्ठा की भावना होती है, वह द्रव्य वंदन है। यह कभी-कभी कर्मबंधन का कारण बन जाता है। भय और प्रलोभन से रहित हो पवित्र और निर्मल भावना के साथ वंदन करना ही भाव वंदन है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

वंदना के लाभ (Benifits of Respect)

वंदना करने से अहंकार का नाश होता है और विनय की प्राप्ति होती है। शुद्ध भावों से वंदना करने पर नीच गोत्र का क्षय और उच्च गोत्र का बंधन होता है। वंदना करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है।

2.5.4 प्रतिक्रमण (Penitence)

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, दूसरों से करवाया जाता है अथवा करने वालों का अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिए अपने कृतपापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण को स्पष्ट करते हुए कहा गया—

स्वस्थानात् यत् परस्थानं प्रमादवशतो गतः।
तत्रैव क्रमणंभूयः प्रतिक्रमणमुच्यते।।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व्यक्ति प्रमाद के कारण अपने स्वभाव—क्षमा, मैत्री, करुणा आदि का छोड़कर परभाव—क्रोध, मान आदि में चला गया हो ता उस परभाव से पुन: अपने स्वभाव में लौटने का नाम प्रतिक्रमण है। यह आत्मशुद्धि की साधना है। अशुभ से शुभ की ओर लौटने की साधना है।

श्रमण और श्रावक के द्वारा अपने स्वीकृत व्रतों में किसी भी प्रकार की स्खलना हो गई हो तो प्रतिक्रमण के द्वारा वह उसकी शुद्धि करता है।

प्रतिक्रमण के भेद (Types of Penitence)

प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गए हैं—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण में साधक बिना किसी भावना के यंत्रवत् उच्चारण करता रहता है। कृत दोषों के प्रति मन में ग्लानि के भाव नही होते और भविष्य में भी पुन: पुन: उन्हीं दोषों का सेवन करता रहता है।

भावप्रतिक्रमण में साधक के मन में अपने कृत दोषों के प्रति गहरी ग्लानि होती है। वह चिन्तन करता है—मैंने इस प्रकार की स्खलनाएँ क्यों की? भविष्य में उन्हें पुनः न दोहराने का दृढ़ संकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार बताये गए हैं—1. दैवसिक, 2. रात्रिक, 3. पाक्षिक, 4. चातुर्मासिक और 5. सांवत्सरिक।

दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिन में आचरति पापकर्म का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक—प्रतिदिन प्रात:काल के समय सम्पूर्ण रात्रि में आचरित पापकर्म का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

पाक्षिक—पक्ष के अन्त में पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सम्पूर्ण पक्ष (15 दिन) में आचरित पापों का विचार कर उसकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक—कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

सांवत्सरिक—प्रत्येक वर्ष संवत्सरी महापर्व के दिन वर्षभर के पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का प्रयोजन (Aim of Pratikraman)

प्रतिक्रमण भाव-परिष्कार का एक बहुत अच्छा प्रयोग है। इसके तीन चरण हैं—

1. **अइयं पडिक्कमामि**—अतीत का प्रतिक्रमण करना।
2. **पडुपुण्णं संवरेमि**—वर्तमान का संवर करना।
3. **अणागयं पच्चक्खामि**—भविष्य का प्रत्याख्यान करना।

अतीत का प्रतिक्रमण—प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मन में कभी बुरे भाव न आएं पर निमित्त मिलते ही बुरे भाव आ जाते हैं। बुरे भावो से बचने के लिए अतीत के संस्कारों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। जब तक अतीत का प्रतिक्रमण नहीं होता, उनका शोधन नहीं होता तब तक भाव-परिष्कार की दिशा में गति नही होती।

वर्तमान का संवर—अतीत का प्रतिक्रमण होने पर भी जब तक वर्तमान का संवर नहीं होता, तब तक मलिनता पुन: आती रहती है। जिस प्रकार दरवाजा खुला छोड़ देने पर साफ कमरे में आंधी की रेत। अत: वर्तमान का संवर करना आवश्यक है।

भविष्य का प्रत्याख्यान—अतीत का शोधन और वर्तमान का संवर हाने पर भी यदि भविष्य का प्रत्याख्यान नही होता तो शोधन और संवर सुरक्षित नहीं रह सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.5 कायोत्सर्ग (Non-attachment to the Body)

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग करना। जीवित रहते हुए शरीर का त्याग कर पाना संभव नहीं है अत: यहां शरीर के त्याग का तात्पर्य—शारीरिक चंचलता और शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग करना है। जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां प्रत्येक अनुष्ठान से पूर्व कायोत्सर्ग करने का विधान है।

दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में जिस-जिस काल में जितना-जितना कायोत्सर्ग करने का विधान है, उस काल का अतिक्रमण किये बिना कायोत्सर्ग करना ही कायोत्सर्ग आवश्यक है। इसमें आसन, प्राणायाम और ध्यान—तीनों की साधना एक साथ होती है।

कायोत्सर्ग में साधक बिल्कुल स्थिर रहता है। उस समय देव, मानव और तिर्यंच संबंधी कोई भी उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करता है।

2.5.6 प्रत्याख्यान (Renunciation)

षडावश्यक का छठा अंग प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग करना। इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक तत्त्व है। प्रमादपूर्वक किये गए भूतकालीन दोषों का परिमार्जन करना प्रतिक्रमण कहलाता है तथा भविष्यकाल में उस अशुभ प्रवृत्ति को न दोहराने का संकल्प करना प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं—द्रव्य प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान। आहार, वस्त्र आदि बाह्य पदार्थों में से किसी पदार्थ को छोड़ देना द्रव्य प्रत्याख्यान है। राग-द्वेष, कषाय आदि अशुभ मानसिक वृत्तियों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान से साधक अशांति के मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि हो जाती है, किन्तु भविष्य में पुन: आत्मा मलिन न बने इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार वस्त्र को स्वच्छ करने के बाद पुन: वह मलिन न बने इसलिए उसे आलमारी में रखते हैं उसी प्रकार मन में मलिनता न आये, इसलिए प्रत्याख्यान करते हैं।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिए अवश्यकरणीय क्रिया है। यह सम्पूर्ण अध्यात्मयोग की साधना है।

गुणस्थान (Stages of Spiritual Development)

जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य है—आत्मगुणों का विकास करना। यह विकास सब जीवों में समान नही होता। सबमें अलग-अलग होता है। किसी मे कम होता है और किसी में ज्यादा। न्यूनाधिक विकास के आधार पर इसकी चौदह अवस्थाएँ बनती हैं। ये आत्म-विकास के चौदह सोपान हैं। इन चौदह सोपनों पर क्रमश: चढ़ते-चढ़ते जब व्यक्ति अन्तिम सोपान को भी पार कर लेता है तो वह अपने आत्म-गुणों का पूर्ण विकास कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ये चौदह सोपान ही चौदह गुणस्थान हैं।

2.6 गुणस्थान की परिभाषा (Definition : Stages of Spiritual Development)

गुणस्थान की अवधारणा का मुख्य आधार है—कर्म-विशोधि। गुणस्थान में दो शब्द हैं—गुण और स्थान। गुण से तात्पर्य आत्मिक गुणों से है तथा स्थान से तात्पर्य उनके क्रमिक विकास से है। इस प्रकार आत्मा की क्रमिक विशुद्धि को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान को जीवस्थान भी कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और जो द्रव्य होता है, वह गुण से रहित नहीं होता अत: जीव द्रव्य भी ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से युक्त है। संसारी अवस्था में कर्मावरण के कारण वे गुण आवरणित हो जाते हैं, जिससे जीव में दोष भी प्रकट हो जाते हैं, किन्तु वे कर्म जीव के गुणों को पूर्ण रूप से आवरणित नहीं कर पाते अत: जीव मे कुछ गुण भी प्रकट रहते हैं। इस प्रकार संसारी अवस्था में आत्मा गुणयुक्त भी है और कर्मावरण के कारण दोषयुक्त भी है। जैसे-जैसे कर्मों का शोधन होता है, वैसे-वैसे आत्मगुणों का विकास होता है। यह आत्मगुणों का क्रमिक विकास ही गुणस्थान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.7 गुणस्थान के भेद (Fourteen Stages of Spiritual Development)

आत्मिक गुणों के न्यूनतम विकास से लेकर सम्पूर्ण विकास की समस्त भूमिकाओं को जैन दर्शन में चौदह भागों में बांटा गया है। पहली भूमिका में आत्मगुणों का विकास न्यूनतम होता है और अन्तिम भूमिका में उसका पूर्ण विकास हो जाता है। यह विकास आत्मा की निर्मलता-पवित्रता पर निर्भर करता है। आत्मा की निर्मलता से गुणस्थान क्रमश: ऊँचे होते जाते हैं और मलिनता से नीचे। संसार के समस्त जीव इन चौदह गुणस्थानों में विभाजित हैं। ये आध्यात्मिक विकास क्रम की चौदह अवस्थाएँ हैं—

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
2. सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान
3. मिश्रदृष्टि गुणस्थान
4. अविरत-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान
5. देशविरति गुणस्थान
6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान
7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
8. निवृत्तिबादर गुणस्थान
9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान
10. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान
11. उपशांतमोह गुणस्थान
12. क्षीणमोह गुणस्थान
13. सयोगीकेवली गुणस्थान
14. अयोगीकेवली गुणस्थान।

2.7.1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (Stage of Wrong Faith)

प्रथम गुणस्थान का नाम दर्शनमोहनीय कर्म के आधार पर मिथ्यादृष्टि रखा गया है। इसमें मोहकर्म की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण ही विपरीत होता है। मिथ्यादृष्टि का अर्थ है—गलत दृष्टिकोण। जिसकी तत्त्व-श्रद्धा विपरीत हो, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है और उसके गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि वाले प्राणी में जिस तत्त्व के प्रति विपरीत दृष्टिकोण है, उसे गुणस्थान नही कहा गया है किन्तु उसमें जो थोड़ा बहुत भी सही दृष्टिकोण है, उसे गुणस्थान कहा गया है। एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति धर्म को अधर्म मान सकता है। पृथ्वी, पानी आदि जीवों को अजीव मान सकता है किन्तु स्वयं को तो जीव मानता है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति में स्वयं को जीव मानने की जो सही समझ है, वह उसका गुणस्थान है। प्रश्न हो सकता है कि उसकी सही समझ को मिथ्यादृष्टि क्यों कहा जाता है? इसका कारण यही है कि व्यक्ति के ज्ञान का मूल्यांकन पात्र के भेद से किया जाता है। जिस प्रकार गंगा नदी का स्वच्छ एवं पवित्र जल किसी गन्दे पात्र में डाल देने पर उसे स्वच्छ एवं पवित्र नही माना जाता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की सही समझ भी मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्यादृष्टि कहलाती है।

2.7.2. सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान (Stage of lingering Relish of Right Belief)

जिसकी दृष्टि सम्यक्त्व के किंचित् स्वाद-सहित होती है, उस व्यक्ति के गुणस्थान को सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। जब किसी सम्यक्दृष्टि व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या बनता है तो वह सम्यक्दृष्टि से च्युत होकर प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की ओर अग्रसर होता है। जब तक वह प्रथम गुणस्थान में नही पहुंच जाता तब तक उसकी मध्यवर्ती अवस्था का नाम सास्वादन सम्यक्दृष्टि गुणस्थान है। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर संक्रमण काल में यह स्थिति रहती है। जैन दर्शन में इसे उदाहरण से समझाया गया, जैसे—वृक्ष से फल गिरता है और जब तक वह धरती का स्पर्श नही करता तो उस बीच की अवस्था के समान यह द्वितीय गुणस्थान है। दूसरा उदाहरण मिलता है कि जैसे किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल उसे वमन हो गया। वमन हो जाने से सारी खीर बाहर निकल गई किन्तु उस खीर का थोड़ा-सा स्वाद थोड़ी देर के लिए बना रहता है। उसी तरह सम्यक् दृष्टि जीव का दृष्टिकोण जब मिथ्या बनता है तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक पहुंचने के मध्य सम्यक्त्व का थोड़ा-सा स्वाद बना रहता है। अल्पकालीन आस्वाद होने के कारण इसका नाम सास्वादन-सम्यक्दृष्टि रखा गया है।

2.7.3. मिश्रदृष्टि गुणस्थान (Stage of Right-cum-wrong Belief)

जिसकी दृष्टि न सर्वथा सम्यग् होती है और न सर्वथा मिथ्या, किन्तु मिश्रित होती है, उसे सम्यगमिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गुणस्थान कहा जाता है। यह आत्मा की सन्देह सहित दोलायमान अवस्था है। इस श्रेणी में रहने वाला व्यक्ति न इधर का रहता है और न उधर का। जैसे शर्करा से मिश्रित दही की रसानुभूति न केवल अम्ल होती है और न केवल मधुर, किन्तु मिश्रित होती है, उसकी अम्लता और मधुरता को सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता वैसे ही इस गुणस्थान में सम्यक् और मिथ्या रुचि को पृथक् नहीं किया जा सकता है। पहले गुणस्थान और इस तीसरे गुणस्थान में यह भिन्नता है कि पहले गुणस्थान वाले की दृष्टि तत्त्व के प्रति एकांत रूप से मिथ्या होती है और इस गुणस्थान वाले की दृष्टि संदिग्ध-मिश्र होती है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है। इस गुणस्थान में स्थित आत्मा शीघ्र ही अपनी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार या तो मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त हो जाती है या सम्यक्त्व अवस्था को। इसीलिए इसका स्थान तीसरा रखा गया है। इसे पार कर व्यक्ति सम्यक्त्वी बन सकता है।

2.7.4. अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (Stage of Right Belief)

इस चतुर्थ गुणस्थान में दृष्टिकोण पूर्णत: सम्यक् बन जाता है। इस दृष्टि वाला सही को सही और गलत को गलत समझता है, किन्तु वह किसी प्रकार का व्रत स्वीकार नहीं कर सकता अत: इसका नाम अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यहाँ से आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ होता है। आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध होता है। मोक्ष की ओर अग्रसर होने की चेष्टा शुरू हो जाती है।

2.7.5. देशविरति गुणस्थान (Stage of Partially Restrained and Partilly Unrestrained)

इस पंचम गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मिक शक्ति विकसित होती है। वह पूर्णरूप से व्रतों की आराधना नहीं कर सकता किन्तु आंशिक रूप से व्रतों को स्वीकार करता है, जैसे—वह पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि महाव्रत को स्वीकार नही कर सकता किन्तु छोटी-छोटी हिंसा का त्याग कर अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करता है। बड़ा झूठ बोलने और चोरी करने का त्याग कर सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत आदि को स्वीकार करता है। आंशिक रूप से व्रतों को स्वीकार करने वालों को जैन आचारशास्त्र में उपासक या श्रावक कहा जाता है। इसमें अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आचरण प्रारम्भ हो जाता है।

2.7.6. प्रमत्त-संयत गुणस्थान (Stage of Restrained with Remissness)

इसका दूसरा नाम सर्वविरति गुणस्थान भी है। इसमें साधक आंशिक व्रत से पूर्ण व्रत की ओर जाता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहलाकर महाव्रत कहलाता है और वह श्रावक न कहलाकर श्रमण-साधू कहलाता है। इसमें अहिंसा, सत्य आदि के आचरण का पूर्ण संकल्प होता है। पूर्ण संयमी जीवन को स्वीकार करने के बाद भी उसमें प्रमाद रहता है, जिसके कारण वह कभी-कभी दोषों का भी सेवन कर लेता है अत: इस गुणस्थान का नाम प्रमत्त-संयत गुणस्थान रखा गया है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस गुणस्थान से ऊपर भी उठ सकता है और नीचे भी गिर सकता है। यह गुणस्थान श्रमण में पाया जाता है।

2.7.7. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान (Stage of Free from Remissness)

सातवें गुणस्थान में प्रमाद छूट जाता है। हर क्षण आत्मा के प्रति जागरूकता बनी रहती है। अप्रमादी साधु के गुणस्थान को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति बहुत लम्बे समय तक नही रहती। प्रमादजन्य वासनाएँ बीच-बीच में प्रकट होती रहती हैं, जिसके कारण वह पुन: प्रमादावस्था में चला जाता है। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने वालों को छोड़कर छठे-सातवें गुणस्थान का क्रम बदलता रहता है। अन्तर्मुहूर्त्त के बाद वह छठे गुणस्थान में चला जाता है।

2.7.8. निवृत्तिबादर गुणस्थान (Stage of Eradication of Gross Passions)

जिसमें स्थूल कषाय की निवृत्ति होती है अर्थात् कषाय थोड़े रूप में उपशांत या क्षीण होते हैं, उसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा स्थूल रूप से कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ से मुक्त हो जाती है।

2.7.9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान (Stage of Non-eradication of Gross Passion)

जिसमें स्थूल कषाय की अनिवृत्ति होती है अर्थात् कषाय थोड़ी मात्रा में शेष रहता है, उसे अनिवृत्ति बादर कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा कषाय से प्राय: निवृत्त हो जाती है। आठवें गुणस्थान में कषाय की निवृत्ति थोड़ी मात्रा में होती है, इसलिए उसे निवृत्तिबादर कहा गया है। नवें गुणस्थान में कषाय थोड़ी मात्रा में शेष रहता है, इसलिए इसे अनिवृत्तिबादर कहा गया है। आठवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय निवृत्त हुआ है, उसके आधार पर किया गया है।

2.7.10. सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान (Stage of Subtle Passion)

यहां सम्पराय का अर्थ है—लोभ-कषाय, जिसमें लोभ-कषाय का सूक्ष्म अंश विद्यमान होता है, उसके गुणस्थान को सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय तो सर्वथा उपशांत या क्षीण हो जाते हैं। सिर्फ लोभ-कषाय अल्प मात्रा में रहता है।

2.7.11. उपशांतमोह गुणस्थान (Stage of Subsided Delusion)

जिसका मोह अंतर्मुहूर्त्त के लिए सर्वथा उपशांत हो जाता है, उसके गुणस्थान को उपशांतमोह गुणस्थान कहा जाता है। दसवें गुणस्थान में जो सूक्ष्म लोभ शेष था, उस लोभ का यहां उपशम हो जाता है, किन्तु वह पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता। जैसे राख से ढके हुए अंगारे बुझे हुए से प्रतीत होते हैं, किन्तु थोड़ी-सी हवा से वे अंगारे पुन: जल उठते हैं, उसी प्रकार इस गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त्त तक मोह उपशम-शांत रहता है पर पुन: निमित्त मिलने पर वह प्रकट हो जाता है।

2.7.12. क्षीणमोह गुणस्थान (Stage of Extirpated Delusion)

जिसका मोहकर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके गुणस्थान को क्षीण मोह गुणस्थान कहा जाता है। मोह के सर्वथा क्षीण होते ही आत्मा पूर्ण वीतराग हो जाती है।

जैन दर्शन के अनुसार आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ निकलती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जो साधक मोहकर्म का उपशम करते हुए आगे बढ़ते हैं, उनकी श्रेणी उपशमश्रेणी कहलाती है और जो साधक मोहकर्म का क्षय करते हुए आगे बढ़ते हैं, उनकी श्रेणी क्षपकश्रेणी कहलाती है। उपशमश्रेणी से आगे बढ़ने वाला ग्यारहवें गुणस्थान में मोह को सर्वथा उपशम-शांत कर देता है। किन्तु अन्तर्मुहूर्त्त के बाद मोह का पुन: उदय होने से वह इस गुणस्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों की ओर गतिशील होता है। बीच में ही संभल जाने पर छठे, पांचवें, चौथे किसी भी गुणस्थान में स्थिर हो सकता है और न संभल पाने पर पहले गुणस्थान तक भी पहुंच सकता है।

क्षपकश्रेणी से आगे बढ़ने वाला साधक मोहकर्म को क्षीण-क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है और दसवें गुणस्थान के बाद वह सीधा बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर मोहकर्म का सर्वथा क्षय कर देता है।

2.7.13. सयोगीकेवली गुणस्थान (Stage of Omniscient with Activity)

केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी जो केवली मन, वचन और काया के योग-प्रवृत्ति से युक्त होता है, उसके गुणस्थान को सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिकर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं। आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति रूप आत्म-स्वभाव प्रकट हो जाता है।

2.7.14. अयोगीकेवली गुणस्थान (Stage of Omniscient with Cessation of All Activities)

जो केवली अयोगी—मनयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति से रहित होता है, उसके गुणस्थान को अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यन्त अल्प होता है। जितना समय पांच ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ, ऋ, लृ को मध्यम स्वर से उच्चारित करने में लगता है, उतने ही समय तक इस गुणस्थान में आत्मा रहती है। तत्पश्चात् वह अनादिकालीन कर्म-बन्धन को तोड़कर सर्वथा मुक्त हो जाती है। उसका संसारी जीवन समाप्त हो जाता है। जन्म-मरण की परम्परा का अन्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.8 गुणस्थानों का कालमान (Time Period of Every Stage)

प्रथम गुणस्थान का कालमान अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त होता है। अभव्य प्राणी—जिनमें कभी भी मोक्ष जाने की योग्यता नहीं होती—अनादि काल से मिथ्यादृष्टि हैं और अनन्तकाल तक मिथ्यादृष्टि ही रहेंगे। अभव्य प्राणी की अपेक्षा से पहले गुणस्थान का समय अनादि-अनन्त बताया गया है। भव्य प्राणी जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता है, पर अभी तक उन्होंने सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं की है अत: अनादि काल से वे मिथ्यादृष्टि हैं पर भविष्य में वे सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं, तब उनका मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाएगा, अत: भव्य प्राणी की अपेक्षा से इसे अनादि सान्त कहा गया है। सम्यक्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति पुन: मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त कर सकता है और मिथ्यादृष्टि के बाद पुन: सम्यक्दृष्टि को भी प्राप्त कर सकता है। इस अपेक्षा से इसे सादि-सान्त कहा गया है।

दूसरे गुणस्थान का कालमान छ: अवलिका है।

चौथे गुणस्थान का उत्कृष्ट कालमान तैंतीस सागर से कुछ अधिक है।

पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व है।

चौदहवें गुणस्थान का कालमान पांच ह्स्वाक्षर—अ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण मात्र है।

शेष गुणस्थानों का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की प्रबलता और निर्बलता पर ही इन चौदह गुणस्थानों का निर्माण होता है। जितना-जितना मालिन्य हटता है, उतनी-उतनी आत्म-विशुद्धि होती है और इसी विशुद्धि का नाम गुणस्थान है। प्रथम और तृतीय गुणस्थान अध्यात्म-विकास के न्यूनतम स्थान हैं। द्वितीय गुणस्थान में भी अपक्रमण होता है। चतुर्थ गुणस्थान से क्रमिक ऊर्ध्वारोहण प्रारम्भ होता है और चौदहवें गुणस्थान में आत्मा की पूर्ण विशोधि हो जाती है। विशुद्ध आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। अत: मुक्त आत्मा एक समय में लोक के अन्तिम भाग पर जाकर स्थिर हो जाती है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे गति नहीं होती। मुक्त आत्मा में कोई गुणस्थान नहीं होता।

लेश्या (Aural Coloration)

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह जड़ और चेतन दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। उसके अनुसार जड़ और चेतन का संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है। जड़ और चेतन का यह संयोग अनादि काल से है। जड़रूप कर्म आत्मा के साथ संयोग कैसे स्थापित करते हैं या आत्मा और कर्म का संबंध कैसे होता है, इसका समाधान जैन दर्शन में लेश्या के आधार पर दिया गया है। आत्मा और कर्म को जोड़ने का माध्यम है—लेश्या।

2.9 लेश्या की परिभाषा (Definition of Lesya)

लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। लेश्या का अर्थ है—रंग, भावधारा, आभामण्डल। लेश्या को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'योगवर्गणान्तर्गत-द्रव्यसाचिव्यात् आत्मपरिणामो लेश्या'** योग वर्गणा के अन्तर्गत पुद्‌गलों की सहायता से होने वाले आत्म-परिणाम लेश्या हैं। जिस प्रकार स्फटिक मणि में जैसे रंग के धागे को पिरोया जाता है, वह मणि उसी रंग की प्रतिभासित होने लगती है। लाल रंग का धागा पिरोये जाने पर लाल एवं पीले रंग का धागा पिरोये जाने पर वह स्फटिक मणि पीले रंग की प्रतीत होने लगती है। उसी प्रकार जैसी लेश्या की वर्गणाएँ जीव के सम्मुख आती हैं, वैसे ही उसके आत्म-परिणाम बन जाते हैं। अच्छी लेश्या की वर्गणा सम्मुख आने पर अच्छे और बुरी लेश्या की वर्गणा सम्मुख आने पर आत्म-परिणाम बुरे बन जाते हैं। इस प्रकार जीव के अच्छे-बुरे या शुभाशुभ परिणाम (भावधारा) को लेश्या कहते हैं। आत्मा के जैसे अच्छे-बुरे परिणाम होते हैं, उसके आधार पर कर्मों का बंधन होता है।

2.10 लेश्या के प्रकार (Types of Lesya)

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का स्वरूप स्फटिक के समान स्वच्छ है, किन्तु कर्म-पुद्‌गलों से आवरणित होने के कारण उसका शुद्ध एवं स्वच्छ स्वरूप विकृत हो जाता है। कर्मजन्य विकृति अधिक होने पर आत्मा के परिणाम (विचार)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बुरे और विकृति की न्यूनता होने पर आत्म-परिणाम अच्छे बन जाते हैं। भावधारा या विचारधारा की शुद्धि और अशुद्धि सबमें समान नही होती, तरतमभाव रहता है। भावधारा की तरतमता के आधार पर लेश्या को छह भागों में बांटा गया है। प्रथम तीन लेश्याओं में भावधारा अशुभ होने से इन्हें अशुभ लेश्या और अन्तिम तीन लेश्याओं में भावधारा शुभ होने से उन्हें शुभलेश्या कहा गया है। छह लेश्याएँ निम्न हैं—

1. कृष्णलेश्या,	2. नीललेश्या,	3. कापोतलेश्या,
4. तेजोलेश्या,	5. पद्मलेश्या,	6. शुक्ललेश्या।

लेश्या हमारे व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। ये द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। द्रव्यलेश्या एक पौद्गलिक पदार्थ है अत: द्रव्यलेश्या में पुद्गल के सभी गुण; यथा—रंग, गंध, रस, स्पर्श आदि पाए जाते हैं। कृष्ण, नील, कापोत आदि छहों द्रव्य-लेश्याएँ हैं।

भावलेश्या का स्वरूप द्रव्यलेश्या से बिल्कुल भिन्न हैं। जहाँ द्रव्यलेश्या जीव के द्वारा ग्रहण की जाने वाली पुद्गल वर्गणाएँ हैं, वहां भावलेश्या स्वयं जीव का परिणाम है। जीव की जैसी शुभ-अशुभ भावधारा होती है, उसके आधार पर वह वैसे ही शुभ-अशुभ द्रव्य लेश्या को प्राप्त करता है। द्रव्यलेश्या और भावलेश्या में परस्पर कारण-कार्य का सम्बन्धा है। द्रव्यलेश्या आत्मा का बाहरी स्तर है, जिसका आधार पौद्गलिक है और भावलेश्या आंतरिक स्तर है, जिसका आधार राग-द्वेषात्मक परिणति है। जैसी भावधारा अर्थात् भावलेश्या होती है, वैसी द्रव्यलेश्या बनती है और जैसी द्रव्यलेश्या होती है, वैसी भावलेश्या बनती है। अत: दोनों परस्पर एक-दूसरे के कारण-कार्य हैं। कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि का विवेचन इस प्रकार है—

2.10.1 कृष्णलेश्या (Black Aura)

कृष्णलेश्या का रंग काजल की तरह काला है। उसका रस नीम से अनन्तगुणा कड़वा है। गंध मृत सर्प की गंधा से अनन्तगुणा अनिष्ट है। स्पर्श गाय की जीभ से अनन्तगुणा कर्कश है। जो व्यक्ति कृष्णलेश्या प्रधान होता है, उसके आभामण्डल में कृष्णरंग की प्रधानता होती है। कृष्ण-लेश्या वाले व्यक्ति की भावधारा में क्रूरता और हिंसा होती है। मन, वचन, शरीर तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं होता। इच्छाओं पर भी नियंत्रण का अभाव होता है। इन भाजों के आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में कृष्णलेश्या की प्रधानता है।

2.10.2 नीललेश्या (Blue Aura)

नीललेश्या का रंग नीलम की तरह नीला होता है। उसका रस सौंठ से अनन्तगुणा तीखा होता है। गंध मृत सर्प की गंध से अनन्तगुणा अनिष्ट है। स्पर्श गाय की जीभ से अनन्तगुणा कर्कश है। जो व्यक्ति नीललेश्या प्रधान होता है, उसके आभामण्डल में नीलवर्ण की प्रधानता होती है। नीललेश्या वाले व्यक्ति की भावधारा में ईर्ष्या, निर्लज्जता, गृद्धि, प्रद्वेष, रसलोलुपता प्रबल होती है। पौद्गलिक सुखों की खोज में आसक्त रहता है। वह सुख- सुविधा का अन्वेषी होता है। इन भावों के आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में नीललेश्या की प्रधानता है।

2.10.3 कापोतलेश्या (Pigeon-Coloured, Grey Aura)

कापोतलेश्या का रंग कबूतर के गले के समान रंग वाला होता है। उसका रस कच्चे आम के रस से अनन्तगुणा कषैला होता है। गंध मृत सर्प की गंध से अनन्तगुणा अनिष्ट होती है। स्पर्श गाय की जीभ से अनन्तगुणा कर्कश होती है। जो व्यक्ति कापोतलेश्या प्रधान होता है, उसके आभामण्डल में कापोतवर्ण की प्रधानता होती है। कापोतलेश्या वाला व्यक्ति वक्र आचार वाला और मायावी होता है। उसका व्यवहार कुटिल होता है एवं वह दोषपूर्ण वचन बोलने वाला होता है। इन भावों के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में कापोतलेश्या की प्रधानता है।

2.10.4 तेजोलेश्या (Red Aura)

तेजोलेश्या का रंग हिंगुल (सिन्दूर) के समान लाल है। उसका रस पके आम के रस से अनन्तगुणा मधुर है। गंधा सुरभी पुष्प की गंध से अनन्तगुणा इष्ट है। स्पर्श मक्खन से भी अनन्तगुणा कोमल है। जो व्यक्ति तेजोलेश्या प्रधान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होता है, उसके आभामण्डल में अरुणरंग की प्रधानता होती है। तेजोलेश्या वाला व्यक्ति विनम्र होता है। उसका इन्द्रिय और मन पर संयम होता है। वह सबका हितैषी और पाप से डरने वाला होता है। धर्म में उसकी आस्था दृढ़ होती है। इन भावों के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में तेजोलेश्या की प्रधानता है।

2.10.5 पद्मलेश्या (Yellow Aura)

पद्मलेश्या का रंग हल्दी के समान पीला होता है। उसका रस मधु से अनन्तगुणा मीठा होता है। गंध सुरभी पुष्प की गंध से अनन्तगुणा इष्ट होती है तथा स्पर्श मक्खन से भी अनन्तगुणा कोमल होता है। जो व्यक्ति पीतलेश्या प्रधान होता है, उसके आभामण्डल में पीतवर्ण की प्रधानता होती है। पद्मलेश्या वाले व्यक्ति का चित्त शान्त होता है। इन्द्रियों पर पूर्ण विजय होती है। वाणी का विशेष संयम होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ प्रतनु हो जाते हैं इसलिए वह हर परिस्थिति में शांत रहता है। इन भावों के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में पद्मलेश्या की प्रधानता है।

2.10.6 शुक्ललेश्या (White Aura)

शुक्ललेश्या का रंग शंख के समान सफेद होता है। उसका रस मिसरी से अनन्तगुणा मीठा होता है। गंध सुरभी पुष्प से अनन्तगुणा इष्ट होती है तथा स्पर्श मक्खन से भी अनन्तगुणा अधिक कोमल होता है। जो व्यक्ति शुक्ललेश्या प्रधान होता है, उसके आभामण्डल में श्वेतवर्ण की प्रधानता होती है। शुक्ललेश्या की भावधारा वाले व्यक्ति का चित्त सदा प्रसन्न रहता है। मन-वचन-काय की विशेष गुप्ति (निरोध) हो जाती है। आर्त्त और रौद्र ध्यान का प्रसंग ही नहीं आता। धर्म और शुक्ल ध्यान की धारा सतत प्रवाहित रहती है। इन भावों के आधार पर निर्णय किया जा सकता है कि इस व्यक्ति के आभामण्डल में शुक्ललेश्या की प्रधानता है।

लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्तगुण कटु	मृत सर्प की गंध से अनन्तगुण अनिष्ट गन्ध	गाय की जीभ से अनन्तगुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सौंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान कापोत	कच्चे आम के रस से अनन्त-गुण कषैला		
तेजस्	हिंगुल (सिंदूर) के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्त-गुण मधुर	सुरभी कुसुम की गंध से अनन्तगुण इष्ट गंध	नवनीत (मक्खन) से अनन्तगुण कोमल
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त-गुण मीठा		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्तगुण मीठा		

इन छह लेश्याओं में प्रथम तीन अशुभ, अप्रशस्त, अधर्म लेश्याएँ हैं और अन्तिम तीन शुभ, प्रशस्त और धर्म लेश्याएँ हैं। अशुभ लेश्या (भावधारा) में मृत्यु होनेपर दुर्गति और शुभ लेश्या (भावधारा) मे मृत्यु होने पर सुगति की प्राप्ति होती है।

लेश्या के द्वारा मन के भीतरी रसायनो का पता लगाया जा सकता है। पसीने की गंध से उनके स्वभाव का पता लगाया जा सकता है। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि जो व्यक्ति क्रोधी, ईर्ष्यालु, झगड़ालू मनोवृत्ति वाला है, उसके पसीने की गंध में और जो व्यक्ति सरल, पवित्र आचरण वाला है, उसके पसीने की गंध में अंतर होता है। जैन दर्शन में उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकरों के शरीर से कमल के फूल जैसी गंध आती है। यह गंध शुभभावों का प्रतीक है।

जिस व्यक्ति में जैसी लेश्या होती है, उसकी भावधारा भी वैसी बन जाती है। जैन साहित्य में एक उदाहरण के द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

छहों लेश्याओं में होने वाली भावों की तरतमता को प्रतीकात्मक शैली में समझाया गया है। छह मित्रों ने बगीचे में जामुन से लदे वृक्ष को देखा। जामुन खाने की इच्छा से वृक्ष के पास पहुंच गए। सोचने लगे फल कैसे खाएँ? सभी ने अपने सुझाव प्रस्तुत किए।

प्रथम व्यक्ति ने कहा—हमें जड़ सहित सम्पूर्ण वृक्ष को काट देना चाहिए ताकि नीचे बैठे-बैठे ही अच्छे फल खा सकें।

दूसरे व्यक्ति ने कहा—नहीं, पूरे वृक्ष को काटने की आवश्यकता नहीं। बड़ी-बड़ी शाखाओं को काटने से ही हमारा काम बन जाएगा।

तीसरे व्यक्ति ने कहा—नहीं, बड़ी शखाओं को भी काटने की आवश्यकता नही। छोटी-छोटी शाखाओं को काटने से भी हमारा काम चल सकता है।

चौथे व्यक्ति ने कहा—शाखाओं को काटने के बजाय फलों के गुच्छों को तोड़ना ही उचित होगा।

पांचवें व्यक्ति ने कहा—गुच्छों में कच्चे फल भी हैं अत: हमें केवल पके फलों को ही तोड़ना चाहिए।

छठे व्यक्ति ने कहा—ये सब विचार व्यर्थ हैं। वृक्ष से फलों को तोड़ना हिंसा है। हमें जितनी आवश्यकता है, उतने फल तो नीचे गिरे हुए हैं, फिर व्यर्थ ही फल तोड़ने से क्या लाभ?

इस उदाहरण में छ: व्यक्ति छह लेश्या के प्रतीक हैं। प्रथम व्यक्ति कृष्णलेश्या का प्रतीक है। उसके मन में क्रूरता के भाव अधिक होने से वह वृक्ष को जड़ सहित काटने की बात सोचता है। फिर क्रमश: उनके भावों का शोधन होता है। हिंसा के भाव कम होते हैं। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां और छठा व्यक्ति क्रमश: नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या का प्रतीक है। यह दृष्टांत केवल भावों की तरतमता को दिखाने के लिए है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मविशुद्धि के क्षेत्र में द्रव्यलेश्या और भावलेश्या—दोनों की शुद्धता आवश्यक है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के द्वारा जो भी पुद्‌गल ग्रहण करेंगे, वे यदि शुभ हैं तो व्यक्ति के कर्म, विचार, भाव, व्यवहार शुभ होंगे और यदि अशुभ हैं तो इसके विपरीत मनोदशा का निर्माण करेंगे। अत: लेश्या का अध्ययन जीवन मूल्यों का अध्ययन है। शुभ लेश्या में जीना न केवल अपने लिए बल्कि परिवार, समाज एवं देश के लिए भी एक सार्थक उपलब्धि है।

1.11 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. आवश्यक किसे कहते हैं?
2. प्रतिक्रमण किसे कहते हैं?
3. चौदहवें गुणस्थान का काल कितना है?
4. प्रशस्त लेश्या कौन-सी हैं?
5. भावलेश्या किसे कहते हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. षडावश्यक का विवेचन करें?
2. गुणस्थान किसे कहते हैं? चौदह गुणस्थानों पर प्रकाश डालें?
3. लेश्या को परिभाषित करते हुए छ: लेश्याओं का विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-3 श्रावकाचार
(Conduct of Laymen)

संवर्ग प्रस्तावना

भगवान महावीर ने दो धर्मों का प्रतिपादन किया—गृहस्थ धर्म और श्रमण धर्म। वे जानते थे कि सभी श्रमण ध र्म की आराधना नहीं कर सकते अत: जो घर में रहकर साधना करना चाहें उनके लिए भी उन्होंने एक आचार-संहिता दी। उन्होंने श्रावक के आचार का विश्लेषण किया। श्रावक का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वह जिन प्रवचन में श्रद्धाशील हो, उसमें पूर्ण रुचि रखे। उसके पश्चात् वह अपने सामर्थ्य के अनुसार अणुव्रतों को ग्रहण करता है। वह अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतों का पूर्ण पालन नहीं कर सकता, फिर भी जितना संभव हो करने का प्रयास करता है। श्रावक के आचार का मूल अहिंसा है। शेष व्रत अहिंसा व्रत के संपोषण के लिए ही हैं। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में भी वही दृष्टि रही है। श्रावक की जीवनशैली के नौ सूत्रों में भी मुख्य अहिंसा है। एक श्रावक को अच्छा जीवन जीते हुए जीवन के अन्त में संलेखना-संथारा पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करना चाहिए। श्रावक के तीन मनोरथों में तीसरा मनोरथ है—''वह दिन धन्य होगा जब मैं अन्तिम समय में संथारा पूर्वक अपनी जीवन यात्रा को पूरा करूंगा।'' अच्छा जीवन जीने और समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने की कला जैन धर्म में सिखलाई गई है, जिसका प्रभाव व्यक्तिगत जीवन में तो होता ही है, किन्तु परिवार, समाज और देश भी उससे लाभान्वित होता है। 'श्रावकाचार' नामक इस तीसरी इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है— 1. श्रावकाचार, ग्यारह प्रतिमा 2. जैन-जीवनशैली, संलेखना-संथारा

इकाई 3.1 श्रावकाचार और प्रतिमा
(Srāvakācār and Pratimā)

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 श्रावकाचार
1.3 श्रावक की परिभाषा
1.4 श्रावक के बारह व्रत
1.5 पांच अणुव्रत
1.6 तीन गुणव्रत
1.7 चार शिक्षाव्रत
1.8 बारह व्रतों की उपयोगिता
1.9 प्रतिमा
1.10 प्रतिमा के ग्यारह प्रकार
1.11 बोधप्रश्न

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- ❖ श्रावक के वास्तविक अर्थ को समझ सकेंगे।
- ❖ श्रावक के बारह व्रतों को जान सकेंगे।
- ❖ बारह व्रतों की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।
- ❖ अणुव्रतों की साधना के बाद श्रावक द्वारा स्वीकृत ग्यारह प्रतिमा की साधना से परिचित हो सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

श्रावक घर में रहकर ही व्रतों की आंशिक आराधना करता है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत—इन बारह व्रतों का वह अपनी क्षमता के अनुसार अभ्यास करता है। इनका अभ्यास परिपक्व होने पर वह साधना के अगले क्रम 'प्रतिमा' को स्वीकार करता है। प्रतिमा गृहस्थ अवस्था में की जाने वाली साधना की एक विशेष प्रक्रिया है। श्रावक के बारह व्रतों और ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन इस इकाई में किया गया है।

1.2 श्रावकाचार (Conduct of Laymen)

भगवान महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना की— साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु-साध्वी का आचार श्रमणाचार कहलाता है तथा श्रावक और श्राविका का आचार श्रावकाचार कहलाता है। आचरण की पवित्रता ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसे सम्यग् ज्ञान का महत्त्व है, वैसे ही सम्यग् आचरण का महत्त्व है। केवल ज्ञान या केवल आचरण से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु दोनों के उचित संयोग से ही मोक्ष मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार श्रावक व्यापार आदि के द्वारा परिवार का निर्वाह करते हुए भी धर्म की आराधना कर सकता है। एक श्रावक अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन तो नहीं कर सकता किन्तु वह अनावश्यक हिंसा को छोड़ सकता है। अनावश्यक हिंसा को छोड़ना धर्म है। इसी प्रकार बड़ी झूठ, बड़ी चोरी का परिहार करना, परस्त्री का त्याग करना और अनावश्यक धन-संग्रह नहीं करना भी धर्म है। श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार जितना संभव हो सकता है, त्याग करने का प्रयास करता है।

1.3 श्रावक की परिभाषा (Definition of Srāvak)

श्रावक के आचार को समझने से पूर्व श्रावक शब्द का ज्ञान होना आवश्यक है। श्रावक शब्द संस्कृत के 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सुनना। जो श्रमण के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनकर उसका आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों पर विचार करने से यह पता चलता है कि ये श्रावक के तीन कर्त्तव्यों की ओर इंगित करते हैं। प्रथम 'श्रा' अक्षर का अर्थ है—जिनवाणी पर दृढ़ श्रद्धा रखना। द्वितीय 'व' अक्षर का अर्थ है— उचित-अनुचित का विवेक करना। तृतीय 'क' अक्षर का अर्थ है— कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहना। जो जिनवाणी के प्रति श्रद्धा रखते हुए, उचित-अनुचित का विवेक करते हुए अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहता है, वह श्रावक कहलाता है।

1.4 श्रावक के बारह व्रत (Twelve Vows of Householder)

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। उनमें से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

पांच अणुव्रत—1. अहिंसा अणुव्रत, 2. सत्य अणुव्रत, 3. अचौर्य अणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्य (स्वदार संतोष) अणुव्रत, 5. अपरिग्रह (इच्छापरिमाण) अणुव्रत।

तीन गुणव्रत — 1. दिग्व्रत, 2. भोगोपभोग-परिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत — 1. सामायिक व्रत, 2. देशावकासिक व्रत, 3. पौषधोपवास व्रत, 4. अतिथि-संविभाग व्रत।

1.5 पांच अणुव्रत (Five Small Vows)

बारह व्रतों में प्रथम पांच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है–छोटा और व्रत का अर्थ है–नियम। श्रमण हिंसा आदि का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अत: उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक उन व्रतों का पालन आंशिक रूप से करता है अत: उनके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत पांच हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. अहिंसा अणुव्रत, 2. सत्य अणुव्रत, 3. अचौर्य अणुव्रत,

4. स्वदार संतोष अणुव्रत, 5. इच्छापरिमाण व्रत।

1.5.1 अहिंसा अणुव्रत (Non-violence)

श्रावक का प्रथम व्रत अहिंसा अणुव्रत है। इसमें श्रावक स्थूल हिंसा से विरत होता है अत: इसका एक नाम स्थूल प्राणातिपात-विरमण भी है। स्थूल हिंसा का तात्पर्य द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि स्थूल जीवों की हिंसा से है। जैन दर्शन के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। अपने जीवन को चलाने के लिए श्रावक को सूक्ष्म जीवों पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि की हिंसा करनी पड़ती है किन्तु इनको भी वह अनावश्यक हिंसा नहीं करता है।

श्रमण मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की, चाहे वह त्रस हो या स्थावर हो, न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न ही करने वालों का समर्थन करता है। इस प्रकार श्रमण हिंसा का तीन योग (मन, वचन, काया) और तीन करण (करना, करवाना और समर्थन करना) से त्याग करता है। श्रावक इस प्रकार हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नही कर सकता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग और दो करण से होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन, काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है। किन्तु परिस्थिति विशेष में स्थूल हिंसा के समर्थन की उसको छूट होती है।

जैन दर्शन में हिंसा के चार प्रकार माने गए हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमें से श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। वह संकल्पपूर्वक किसी भी त्रसप्राणी की हिंसा नहीं करता। अपने व्यवसाय आदि में तथा दैनिक कार्यों में भी कभी-कभी त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है किन्तु वह संकल्पपूर्वक उनकी हिंसा नहीं करता अत: हिंसा हो जाने पर भी उसका व्रत भंग नहीं होता है।

अहिंसा अणुव्रत का अच्छी तरह से पालन करने के लिए श्रावक को निम्नलिखित अतिचारों (दोषों) से बचना चाहिए—

1. बंधन—किसी भी त्रस प्राणी को निर्दयतापूर्वक कठोर बंधन से बांधना, पिंजरे में बंद कर देना या उन्हें अपने इच्छित स्थान पर जाने से रोकना।

2. वध—किसी भी त्रस प्राणी का वध करना। उसे लकड़ी, चाबुक आदि से मारना अथवा उन पर घातक प्रहार करना।

3. छविच्छेद—छविच्छेद का अर्थ है—किसी भी त्रस प्राणी के अंगोपांग को काटना, अंगों को छेदन करना, किसी की आजीविका छीनना या उसका शोषण करना।

4. अतिभार—किसी भी प्राणी पर शक्ति से अधिक भार लादना, शक्ति से अधिक काम लेना अतिभार है।

5. भोजन-पानी का निरोध—अपने अधीनस्थ पशुओं और कर्मचारियों आदि को समय पर भोजन-पानी न देना।

अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करने वाले श्रावक को इन दोषों से बचना चाहिए। इस प्रकार स्थूल हिंसा का त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है।

1.5.2 सत्य अणुव्रत (Truth)

श्रावक का दूसरा व्रत सत्य अणुव्रत है। श्रावक पूर्ण सत्य बोलने का व्रत नहीं ले सकता क्योंकि उसे कभी-कभी परिस्थितिवश असत्य-संभाषण करना पड़ता है। परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो बड़ा झूठ बोलने का त्याग कर सकता है। ऐसा झूठ, जिसके बोलने से किसी का बहुत बड़ा नुकसान हो, किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो, ऐसे असत्य संभाषण का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। जिस प्रकार श्रावक हिंसा का त्याग तीन योग दो करण से करता है उसी प्रकार असत्य का त्याग भी वह तीन योग और दो करण से करता है। दसवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय या हास्यवश असत्य भाषण करता है। अत: श्रावक के लिए कहा गया कि उसे अपने इन भावों पर नियंत्रण रखना चाहिए। सत्य अणुव्रत का अच्छी तरह से पालन करने के लिए उसे निम्नलिखित दोषों से बचना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. सहसा-अभ्याख्यान—सत्य-असत्य का निर्णय किए बिना आवेश, पूर्वाग्रह, द्वेष या लोभवश किसी व्यक्ति पर अकस्मात झूठा आरोप लगा देना। जैसे—किसी की पतिव्रता स्त्री को कुलटा कह देना।

2. रहस्य-अभ्याख्यान—किसी की गुप्त बात को किसी के समक्ष प्रकट कर देना। गोपनीयता भंग कर देना।

3. स्वदार मंत्रभेद—पति-पत्नी में से किसी के भी द्वारा एक-दूसरे की गुप्त बातों को किसी अन्य के सामने प्रकट कर देना स्वदार मंत्रभेद नामक अतिचार है। इससे परिवार में वैमनस्य पैदा होता है और बाहर में बदनामी होती है।

4. मिथ्या उपदेश—मिथ्या उपदेश के द्वारा किसी को गलत मार्ग पर, कुमार्ग पर लाना भी सत्य अणुव्रत का अतिचार है।

5. कूटलेख क्रिया—झूठे दस्तावेज लिखना, नकली हस्ताक्षर करना, नकली मुहर-छाप बनाना आदि कूटलेख क्रिया है।

श्रावक को इन सभी अतिचारों से बचकर सम्यक् प्रकार से सत्य का पालन करना चाहिए।

1.5.3 अचौर्य अणुव्रत (Non-Stealing)

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य अणुव्रत है। इसमें वह स्थूल चोरी से तीन योग दो करण से विरत होता है। स्थूल चोरी का त्याग करने पर उसका जीवन लोक-व्यवहार की दृष्टि से विश्वसनीय और प्रामाणिक बन जाता है।

श्रावक पूर्ण रूप से चोरी को नहीं छोड़ सकता किन्तु डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अचौर्य अणुव्रत है। जिस चोरी से राजदण्ड मिले और लोग निन्दा करें, वैसी चोरी बहुत घृणित मानी जाती है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का कर्तव्य है। अचौर्य व्रत का अच्छी तरह से पालन करने के लिए श्रावक को निम्नलिखित दोषों से बचना चाहिए।

1. स्तेनाहृत—जिस प्रकार श्रावक स्वयं चोरी नही कर सकता उसी प्रकार चोर के द्वारा चुरायी गई वस्तु को खरीद भी नही सकता और चोरी का माल भी अपने घर में नहीं रख सकता। श्रावक इस दोष से बचने की कोशिश करता है।

2. तस्कर प्रयोग—चोरों को चोरी करने की प्रेरणा देना या तस्करों को तस्करी से माल लाने की प्रेरणा देना तस्कर प्रयोग नामक अतिचार है।

3. विरुद्ध राज्यातिक्रम—राजकीय नियमों का उल्लंघन करना या राज्य के द्वारा निषिद्ध वस्तुओं का आयात-निर्यात करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। श्रावक को इस अतिचार से बचना चाहिए।

4. कूटतुला-कूटमान—तोल-माप के जो पैमाने निश्चित किये गए हैं, उसमें न्यूनाधिक करना भी एक प्रकार की चोरी है। श्रावक को ऐसा नहीं करना चाहिए।

5. तत्प्रतिरूपक व्यवहार—किसी अच्छी चीज में उसके जैसी घटिया वस्तु का मिश्रण करके बेचना अथवा नमूने की अच्छी चीज दिखाकर उसके स्थान पर नकली चीज देना तत्प्रतिरूपक व्यवहार नामक अतिचार है। श्रावक को इन सभी अतिचारों के सेवन से बचना चाहिए।

1.5.4 ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वदार-संतोष व्रत) (Celibacy)

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसे स्वदार-संतोष व्रत भी कहा जाता है। श्रावक संन्यासी नही होता। अपनी वंश परम्परा को चलाने के लिए वह विवाह करता है। अपनी पत्नी में ही संतोष करना स्वदारसंतोष व्रत है। दूसरे शब्दों में वेश्यागमन और पर-स्त्री संभोग का त्याग करना तथा अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री पर-पुरुष के साथ संभोग का त्याग करती है तथा अपने पति के साथ संभोग की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। स्वदार संतोष व्रती को निम्नलिखित पांच दोषों से बचना चाहिए।

1. इत्वर परिगृहीतागमन—कुछ समय के लिए पैसे देकर या किसी तरह से अपने घर रखी हुई स्त्री के साथ गमन करना इत्वर परिगृहीतागमन है। श्रावक उसके साथ सहवास नहीं कर सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. अपरिगृहीतागमन—वेश्या आदि के साथ समागम करना अपरिगृहीतागमन है।

3. अनंगक्रीड़ा—काम सेवन के लिए जो अंग प्राकृतिक नहीं हैं, वे अनंग कहलाते हैं। जैसे—हस्तमैथुन, गुदामैथुन आदि। इन अंगों से काम क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है।

4. परविवाहकरण—अपने परिवार के सदस्यो का विवाह संस्कार करना श्रावक का कर्त्तव्य है, किन्तु अन्य व्यक्तियों के नाते-रिश्ते करवाने में रुचि लेना परविवाहकरण है। श्रावक के लिए अन्य व्यक्तियों के विवाह-सम्बन्ध कराने का निषेध है।

5. कामभोग की तीव्र अभिलाषा—कामभोगों और विषयभोगों में तीव्र आसक्ति रखना। कामवर्धक औषधियों या मादक द्रव्यों का सेवन श्रावक के लिए निषिद्ध है। श्रावक को इन सभी अतिचारों के सेवन से बचना चाहिए।

1.5.5 अपरिग्रह अणुव्रत (इच्छापरिमाण व्रत) (Limit to possession)

श्रावक का पांचवां व्रत अपरिग्रह-इच्छापरिमाण व्रत है। श्रावक पूर्ण अपरिग्रही नही हो सकता क्योंकि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं परिग्रह से ही पूरी होती है। सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संग्रह की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है। दुनियां में धन-संग्रह की कोई सीमा नही है। मनुष्य जैसे-जैसे उसका संग्रह करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती लालसा को रोकने के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का विधान है। इसका दूसरा नाम इच्छा-परिमाण भी है। इच्छाएं अनन्त हैं। वे कभी पूरी नही होती। एक इच्छा पूरी होती है तो दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उन बढ़ती हुई इच्छाओं की सीमा करना इच्छा-परिमाण व्रत है। भगवान महावीर ने पदार्थ के प्रति मूर्च्छा-आसक्ति को भी परिग्रह कहा है। श्रावक को अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करना चाहिए तथा जिन आवश्यक पदार्थों का संग्रह वह करता है, उनके प्रति भी ममत्व नही करना चाहिए। इस अणुव्रत का अच्छी तरह से पालन करने के लिए निम्नलिखित पांच अतिचारों का सेवन नहीं करना चाहिए—

1. क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम—खेत, गृह आदि की निर्धारित सीमा का अतिक्रमण करना।

2. हिरण्य-स्वर्ण परिमाणातिक्रम—चांदी-सोने की निर्धारित सीमा का अतिक्रमण कर उससे ज्यादा संग्रह करना।

3. धन-धान्य परिमाणातिक्रम—धन-धान्य आदि की स्वीकृत मर्यादा का अतिक्रमण करना।

4. द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रम—दास-दासी आदि द्विपद तथा गाय, घोड़े आदि चतुष्पद परिग्रह की निर्धारित सीमा का अतिक्रमण करना।

5. कुप्य परिमाणातिक्रम—घर के बर्तन, फर्नीचर वाहन आदि की निर्धारित सीमा का अतिक्रमण करना। श्रावक ने आवश्यकतानुसार परिग्रह की जितनी सीमा निर्धारित की है, उसके अतिक्रमण से बचना चाहिए।

1.6 गुणव्रत (Qualifying Vows)

श्रावक के द्वारा स्वीकार किए जाने वाले बारह व्रतों मे पांच अणुव्रत तो मूलव्रत हैं और शेष सात व्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रतों का विधान अणुव्रतों के विकास के लिए किया गया है। इसलिए अणुव्रतों को सोना तथा गुणव्रतों को सोने की चमक-दमक बढ़ाने वाले पॉलिश के समान कहा गया है। अणुव्रत के पालन में जो कठिनाइयां आती है, उन कठिनाइयों को गुणव्रत दूर करते हैं। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रत की सीमा मे रही हुई मर्यादा को ओर अधिक संकुचित किया जाता है। अणुव्रतों की पुष्टि हेतु तीन गुणव्रत बताये गए हैं— 1. दिशापरिमाण व्रत (दिग्व्रत), 2. भोगोपभोगपरिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्डविरमण व्रत।

2.6.1 दिशा-परिमाण व्रत (Direction-restricting vow)

तीन गुणव्रतों में पहला गुणव्रत दिशा-परिमाण व्रत है। इसे दिग्व्रत भी कहा जाता है। दिग् अर्थात् दिशा। श्रावक को अपने व्यापार या अन्य कार्यवश सभी दिशाओं में यात्रा करनी पड़ती है। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं में एक सीमा निश्चित कर उस सीमा से बाहर हर तरह के सावद्य कार्य करने का त्याग करना दिग्व्रत या दिशा-परिमाण व्रत है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यह व्रत श्रावक के हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि के जो विस्तृत क्षेत्र हैं, उन्हें सीमित कर देता है। जिस श्रावक ने इस व्रत को स्वीकार किया है उसे इसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। इस व्रत के पांच अतिचारों से उसे बचना चाहिए।

1. **ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम**—ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिए जो मर्यादा निश्चित कर रखी है, उस क्षेत्र का उल्लंघन हो जाना ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम है।

2. **अधोदिशा परिमाणातिक्रम**—नीचे दिशा में जो गमनागमन के लिए मर्यादा निश्चित की है, उस क्षेत्र का उल्लंघन हो जाना अधोदिशा परिमाणातिक्रम है।

3. **तिर्यक्‌दिशा परिमाणातिक्रम**—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि दिशाओं में जो गमनागमन के लिए क्षेत्र की मर्यादा निश्चित की है, उसका उल्लंघन करना तिर्यकदिशा परिमाणातिक्रम है।

4. **क्षेत्रवृद्धि**—एक दिशा के लिए की गई क्षेत्र की मर्यादा में थोड़ा कम करके दूसरे दिशा के लिए की गई मर्यादा में वृद्धि कर देना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है।

5. **स्मृतिभंश**—प्रत्येक दिशा में स्वीकृत मर्यादा की विस्मृति हो जाने से उससे आगे गमनागमन करना स्मृतिभंश अतिचार है।

दिग्व्रतधारी श्रावक को इन पांच अतिचारों से बचना चाहिए।

1.6.2 भोगोपभोग-परिमाण व्रत (Vow of limiting consumables and Non-consumables)

श्रावक का दूसरा गुणव्रत भोगोपभोग-परिमाणव्रत है। जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे—भोजन, पानी आदि। जो वस्तु बार-बार उपयोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं, जैसे—मकान, वस्त्र, पलंग आदि। भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं का सीमाकरण करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

यह व्रत अहिंसा और अपरिग्रह की रक्षा के लिए है। इसमें श्रावक स्वाद या आसक्तिवश भोगों का सेवन नहीं करता अपितु आवश्यकतावश उनका उपभोग करता है। दिशापरिमाण व्रत में श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर के पदार्थ आदि के भोगों से विरत होता है किन्तु निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थों के भोगोपभोग से सर्वथा खुला रहता है, किन्तु इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक मर्यादित क्षेत्र में भी द्रव्य, क्षेत्र काल से पदार्थों के भोग की सीमा कर लेता है। जैसे अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा, अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लूंगा या अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम में लूंगा आदि।

इस व्रत को स्वीकार करने वाले श्रावक को इसके अतिचारों से बचना चाहिए। वे अतिचार निम्नलिखित हैं—

1. **सचित्त आहार**—सचित्त पदार्थों का आहार करना सचित्त आहार है। सचित्त अर्थात् सजीव। जैसे कच्ची हरी शाक, गुठली सहित पका फल, बिना पका हुआ अनाज आदि सचित्त आहार हैं। भूल से भी सचित्त आहार कर लेना सचित्ताहार नामक अतिचार है।

2. **सचित्त-प्रतिबद्ध-आहार**—आहार तो सचित्त नहीं है, किन्तु वह आहार यदि किसी सचित्त वस्तु पर रखा हुआ है या सचित्त वस्तु से संलग्न है तो उस आहार का भोग करने पर सचित्त-प्रतिबद्ध आहार नामक दोष लगता है। जैसे हरे पत्तों के दोने में रखी हुई दही या मिठाई को खाना या गुठली सहित आम आदि खाना।

3. **अपक्व-आहार**—जो वस्तु पूरी तरह पकी नहीं है, ऐसी अधपकी चीज सचित्त भी नहीं है तो अचित्त भी नहीं है, वह मिश्र है। उसका सेवन करना अतिचार है।

4. **दुपक्व-आहार**—जो आहार अत्यधिक पक गया है, अत्यधिक पकने के कारण जिसमें सड़ान पैदा हो गई है ऐसा आहार अचित्त होने पर भी नहीं खाना चाहिए क्योंकि यह शरीर और धर्म दोनों के लिए हानिकर होता है।

5. **तुच्छौषधि भक्षण**—तुच्छ आहार वह है, जिसमें पोषक तत्त्व या खाने योग्य अंश तो कम है और फेंकने योग्य सारहीन भाग अधिक है, जैसे सीताफल आदि। ऐसी तुच्छ वस्तुओं का आहार करना अतिचार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त इन पांच अतिचारों में मुख्य रूप से भोजन को लिया गया है, किन्तु उपलक्षण से अन्य पदार्थ, जैसे—वस्त्र, दंतौन, फल, स्नान, विलेपन आदि भी ग्रहण कर लेने चाहिए।

1.6.3 अनर्थदण्डविरमण व्रत (Vow of refraining from purposeless violence)

श्रावक का तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड विरमण व्रत है। अपने तथा अपने परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए श्रावक को आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है, उससे वह बच नहीं सकता। किन्तु बिना प्रयोजन के की जाने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति का त्याग करना अनर्थदण्डविरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण होता है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है। क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक क्रियाएँ वे हैं जिन्हें सम्पादित करना आवश्यक होता है। शेष अनावश्यक क्रियाएँ निरर्थक क्रियाएँ हैं। सार्थक सावद्य क्रियाओं को करना अर्थदण्ड है और निरर्थक पापपूर्ण क्रियाओं को करना अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड के अनेक उदाहरण हैं, जैसे—स्नान आदि कार्यों में आवश्यकता से अधिक जल का अपव्यय करना, आवश्यकता से अधिक वृक्ष के पत्तो, पुष्पों को तोड़ना, नल की टोटी, बिजली अथवा पंखों को खुला छोड़ देना आदि। इस व्रत के भी पांच अतिचार बताये गए हैं। जो जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. **कन्दर्प**—कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना अथवा कामभोग सम्बन्धी चर्चा करना।

2. **कौत्कुच्य**—हाथ, मुंह, आंख, नाक आदि की विकृत चेष्टाएँ करना।

3. **मौखर्य**—आवश्यकता से अधिक बोलना, बढ़ा-चढ़ाकर बातें करना, बातचीत में अपशब्दों का उपयोग करना।

4. **संयुक्ताधिकरण**—बिना आवश्यकता के हिंसक शस्त्रों का संग्रह करके रखना, जैसे—बन्दूक में बारूद भरकर रखना, धनुष के साथ तीर संयुक्त करके रखना।

5. **भोग-उपभोगातिरेक**—भोग और उपभोग की सामग्री का आवश्यकता से अधिक संग्रह करके रखना। ऐसा करने पर दूसरे लोग उसके उपभोग से वंचित रहते हैं।

1.7 चार शिक्षाव्रत (Practical Vows)

शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुन: पुन: विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का पुन: पुन: अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत एक ही बार जीवनभर के लिए ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—1. सामायिक व्रत, 2. देशावकासिक व्रत, 3. पौषध व्रत, 4. अतिथि-संविभाग व्रत।

1.7.1 सामायिक व्रत (Abstinence from all sinful activities)

पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। सामायिक सम और आय—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम का अर्थ है—समता, समभाव। आय का अर्थ है—लाभ, प्राप्ति। जिससे समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। जैन परम्परा में एक मुहूर्त्त (48 मिनिट) तक सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग कर समभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है। सामायिक में समभाव की साधना ही मुख्य है। समभाव की साधना के लिए सामायिक चार प्रकार से की जा सकती है।

1. **द्रव्य सामायिक**—द्रव्य सामायिक का अर्थ है—अच्छे-बुरे, सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति राग-द्वेष न करते हुए समभाव रखना।

2. **क्षेत्र सामायिक**—क्षेत्र सामायिक का अर्थ है—कोई भी स्थान या क्षेत्र अनुकूल हो या प्रतिकूल, दोनों ही अवस्थाओं में राग-द्वेष न करके समभाव रखना।

3. **काल सामायिक**—काल सामायिक से अभिप्राय है—कैसा भी काल हो, अनुकूल हो या प्रतिकूल, अपना समभाव नहीं छोड़ना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. भाव सामायिक—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं से अपने अन्तःकरण को भावित करते रहना भाव सामायिक है।

सामायिक व्रत की साधना करते समय श्रावक पूर्ण सावधानी रखता है, फिर भी कुछ दोष लगने की संभावना रहती है। उन दोषों से श्रावक को बचना चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं—

1. मन-दुष्प्रणिधान—सामायिक के भावों से मन को बाहर दौड़ाना, मन को बुरे चिंतन में लगाए रखना मन दुष्प्रणिधान अतिचार है।

2. वचन-दुष्प्रणिधान—सामायिक के समय कटु, कर्कश या अपशब्द का प्रयोग करना वचन दुष्प्रणिधान अतिचार है।

3. काय-दुष्प्रणिधान—सामायिक में शरीर को बार-बार हिलाना, शरीर की कुचेष्टा करना काय-दुष्प्रणिधान अतिचार है।

4. सामायिक स्मृतिभंश—सामायिक ग्रहण की हुई है इस बात को भूल जाना या सामायिक करना ही भूल जाना सामायिक स्मृतिभंश अतिचार है।

5. सामायिक अनवस्थित—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता से करना। निश्चित विधि के अनुसार सामायिक नहीं करना। समय से पूर्व सामायिक को पूरा कर लेना आदि सामायिक अनवस्थित अतिचार है।

श्रावक को समभाव का विकास करने के लिए बार-बार सामायिक का अभ्यास करना चाहिए, साथ ही सामायिक के दोषों से बचना चाहिए।

1.7.2 देशावकासिक व्रत (Vow of limitation of activities in time and distance)

दूसरा शिक्षाव्रत देशावकासिक व्रत है। एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा, असत्य आदि का त्याग करना देशावकाशिक व्रत है। पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों में जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवनभर के लिए किए जाते हैं, किन्तु जो श्रावक इनका त्याग जीवनभर के लिए न करके दो-चार वर्षों के लिए करता है, तो वे सब त्याग (व्रत) देशावकासिक व्रत में आते हैं। दिशापरिमाणव्रत में जीवनभर के लिए दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशााओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घंटों या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकासिक व्रत है। इसी प्रकार भोगोपभोग- परिमाण व्रत में जो सीमा निर्धारित की गई उसका भोग भी प्रतिदिन नहीं किया जाता, उस निर्धारित सीमा का कुछ घंटों या दिनों के लिए संकुचित करना देशावकासिक व्रत है। उपलक्षण से अन्य व्रतों की स्वीकृत मर्यादाओं को संकुचित करना भी इस व्रत में समाहित है। देशावकासिक व्रत के पांच अतिचार निम्नलिखित हैं—

1. आनयन प्रयोग—निर्धारित दिशा से बाहर स्थित सचित्त आदि पदार्थ किसी को भेजकर मंगवाना या समाचार मंगवाना आनयन प्रयोग अतिचार है।

2. प्रेष्य प्रयोग—निर्धारित क्षेत्र से बाहर किसी को भेजकर कोई पदार्थ या संदेश भिजवाना प्रेष्य प्रयोग अतिचार है।

3. शब्दानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की भूमि से संबंधित कोई कार्य उपस्थित होने पर श्रावक अपनी मर्यादित भूमि में रहकर, वहां पर शब्द-संकेत से अपना कार्य करना।

4. रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की भूमि पर कोई कार्य होने पर अपनी आकृति, इशारा या हाथ-पैर की चेष्टा द्वारा वहां स्थित व्यक्ति को अपना आशय समझाना रूपानुपात अतिचार है।

5. पुद्गल प्रक्षेप—मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

श्रावक को सावधानीपूर्वक इन अतिचारों से बचना चाहिए ताकि वह देशावकासिक व्रत का पालन सही ढ़ंग से कर सके।

1.7.3 पौषधोपवास व्रत (Vow of fasting on sacred day)

तीसरा शिक्षाव्रत पौषधोपवास व्रत है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साज-सज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषधव्रत है। चौविहार उपवास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के बिना पौषध व्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध किया जाता है, वह पौषध व्रत नहीं अपितु देशावकासिक व्रत ही होता है। व्यवहार में उसे पौषध कह दिया जाता है।

आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। पौषधकाल में श्रावक साधु की तरह हो जाता है। वह उतने समय के लिए गृहस्थ द्वारा किये जाने वाले सभी सावद्य कार्यों से मुक्त हो जाता है। पौषध में वह मुख्य रूप से आत्म-चिन्तन, आत्म-शोधन और आत्म-विकास की दिशा में पुरुषार्थ करता है।

इस व्रत की आराधना में एक दिन-रात (24 घंटे) के लिए निम्न बातों के त्याग किये जाते हैं—

1. चारों आहार के त्याग।
2. कामभोग के त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन।
3. सोने, चांदी, हीरे आदि के बहुमूल्य आभूषणों का त्याग।
4. माला, गंध आदि धारण का त्याग।
5. हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

पौषधव्रत के भी पांच अतिचार हैं, जिन्हें जानकर श्रावक को उन्हें छोड़ना चाहिए।

1. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या संस्तारक**—पौषधयोग्य स्थान आदि का अच्छी तरह से निरीक्षण न करना।

2. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक**—पौषधयोग्य शय्या आदि का सम्यक् अवलोकन नहीं करना।

3. **अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवणभूमि**—मल-मूत्र त्यागने के स्थान का निरीक्षण न करना।

4. **अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण भूमि**—मल-मूत्र की भूमि को साफ किये बिना या बिना अच्छी तरह साफ किये उपयोग करना।

5. **पौषधोपवास सम्यग् अननुपालन**—पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन न करना।

उक्त अतिचारों से बचते हुए श्रावक को पौषधव्रत की आराधना करनी चाहिए। इससे आत्मगुणों को पोषण मिलता है और आत्मशक्ति का विकास होता है।

1.7.4 अतिथिसंविभाग व्रत (To offer food, drink etc. to the monastic order)

चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग व्रत है। अतिथि का अर्थ है—जिसके आने की कोई भी तिथि, दिन या समय निश्चित नही है। जो बिना सूचना के अनायास आ जाये, वह अतिथि है। उस अतिथि को अपने लिए तैयार किये गए भोजन आदि पदार्थों में से विभाग कर देना अतिथिसंविभागव्रत है। इसमें मुख्य रूप से पांच महाव्रतधारी साधु-संतों को अतिथि कहा गया है। साधु को शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्त्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु पकाकर, बाजार से मंगवाकर यदि उसे दी जाती है तो वह अशुद्ध दान है। स्वयं के लिए बनाई गई, मंगवाई गई वस्तु का दान देना शुद्ध दान है। साधु को अशुद्धदान देने का त्याग करना और शुद्धदान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

अतिथिसंविभाग व्रत के पांच अतिचार बताये गए हैं, जिनसे बचना श्रावक के लिए आवश्यक है—

1. **सचित्त-निक्षेप**—अचित्त वस्तु में सचित्त वस्तु का मिश्रण कर देना या सचित्त वस्तु के निकट रख देना सचित्त-निक्षेप अतिचार है। सचित्त-युक्त होने के कारण वह साधु के ग्रहण करने योग्य नहीं रहती।

2. **सचित्त-पिधान**—अचित्त पदार्थ जो श्रमण के ग्रहण करने योग्य है, उस पर सचित्त पदार्थ ढ़क देना सचित्त-पिधान अतिचार है।

3. **कालातिक्रम**—जो भोजन आदि का समय है उस समय को टालकर भोजन आदि बनाना कालातिक्रम अतिचार है।

4. **परव्यपदेश**—वस्तु देनी न पड़े इस उद्देश्य से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना परव्यवदेश अतिचार है।

5. **मात्सर्य**—दूसरे को दान देते देखकर प्रतिस्पर्धा या अहंकार की भावना से दान देना मात्सर्य अतिचार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

श्रावक को इन पांचों अतिचारों से बचना चाहिए।

जैसे श्रमण को दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है, क्योंकि साधु आध्यात्मिक साधना हेतु गृहवास, परिग्रह आदि का त्याग कर देता है वैसे ही अन्य अतिथियों को भी वह समुचित सहयोग देता है। दीन-दु:खियों का यथोचित सत्कार करता है।

1.8 बारह व्रतों की उपयोगिता (Utility of Twelve Vows)

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक जीव-अजीव में श्रावक के बारह व्रतों की उपयोगिता को बताते हुए लिखा है—

1. हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अत: हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है—**'मेत्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ'**—सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है।

2. समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है। उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलताऔर वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

3. दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अत: स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महत्ती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

4. ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य नि:सत्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-सम्पन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

5. धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र—ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह-व्रत का हार्द भी यही है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

6. दिग्-व्रत से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएँ हो जाए तो सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियाँ हट जायें। जिनमें विस्तारवादी भावनाएँ होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने को दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्व्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नहीं जाता।

7. कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊँगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊँगा, तब उससे आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

8. गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन चलते-फिरते किसी जीव को मार डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल आदि के बर्तनों को खुला रख देना—इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, सामाजिक दृष्टि से भी उपादेय है।

9. समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दु:ख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

10. दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिए दसवां व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं। मनुष्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शरीरिक एवं मानसिक—दोनों तरह की हानि होती है। दसवां व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिए करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

11. ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए। इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

12. बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा आदि न कर आत्म-संयम करना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, मोल भी लिया जा सकता है परन्तु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अत: श्रावक का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र-दान है, आत्मसंयम है। इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत जहाँ वैयक्तिक विकास के हेतु बनते हैं, वहीं समाज और राष्ट्र भी इससे लाभान्वित होता है।

1.9 प्रतिमा (Laymen's Renunciation Stages)

श्रावक की साधना उत्तरोत्तर आत्मविकास की साधना है। वह आंशिकव्रत से पूर्णव्रत की ओर गति करता है अत: वह साधना की अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। बारह व्रतों की साधना का अभ्यास पुष्ट होने पर वह उससे आगे की साधना के लिए अग्रसर होता है, उसे प्रतिमा कहते हैं।

1.10 प्रतिमा के प्रकार

प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिज्ञा विशेष, नियम विशेष, व्रत विशेष। यह श्रावक के द्वारा गृहस्थ अवस्था में की जाने वाली साधना की विशेष भूमिकाएँ हैं। जिन पर क्रमश: चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति करता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. दर्शन प्रतिमा, 2. व्रत प्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. पौषध प्रतिमा,
5. कायोत्सर्ग प्रतिमा, 6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 7. सचित्तत्याग प्रतिमा, 8. आरम्भत्याग प्रतिमा,
9. प्रेष्यत्याग प्रतिमा, 10. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा, 11. श्रमणभूत प्रतिमा।

1.10.1 दर्शन प्रतिमा (Faith)

श्रावक की प्रथम प्रतिमा का नाम है—दर्शन प्रतिमा। दर्शन का अर्थ है—सही दृष्टिकोण का निर्माण। इस प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक का सम्यक् दर्शन शुद्ध होता है। उसमें किसी भी प्रकार के अतिचार (दोष) की संभावना नही होती। श्रावक-धर्म और श्रमण-धर्म पर उसकी गहरी आस्था होती है। दर्शन प्रतिमा वाला अपने तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ को कमकर सम्यग् दर्शन को प्राप्त करता है। इस अवस्था में वह पुण्य को पुण्य और पाप को पाप के रूप में जानता है। सामान्य सम्यकदृष्टि की अपेक्षा दर्शन प्रतिमाधारी सम्यकदृष्टि में मलिनता कम होती है। इसमें व्यक्ति की दृष्टि दोषों की ओर न जाकर गुणों की ओर ही जाती है। यह गृहस्थ- धर्म की प्रथम भूमिका है। इस प्रतिमा का समय एक मास है। एक मास तक दर्शन में किसी प्रकार की मलिनता को न आने देना और दर्शन को विशिष्ट दृढ़ता पर पहुंचा देना ही इस प्रतिमा का प्रयोजन है।

1.10.2 व्रत प्रतिमा (Vows)

श्रावक की दूसरी प्रतिमा का नाम—व्रत प्रतिमा है। दर्शन प्रतिमा की दृढ़ता हो जाने के बाद व्रतों को दृढ़ करना होता है अत: पहले से स्वीकृत व्रतों को ओर अधिक दृढ़ करने के लिए व्रत प्रतिमा स्वीकार की जाती है। इस प्रतिमा में श्रावक अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच अणुव्रतों तथा दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाणव्रत और अनर्थदण्डविरमण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्रत—इन तीन गुणव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देता। लेकिन सामायिक आदि शिक्षाव्रतो का यथासमय सम्यक् प्रकार से अभ्यास नही कर पाता। यह गृहस्थ जीवन की दूसरी भूमिका है। इसमें नैतिक आचरण की दिशा में आंशिक प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रतिमा का समय दो मास का है।

1.10.3 सामायिक प्रतिमा (Samayika)

श्रावक की तीसरी प्रतिमा का नाम सामायिक प्रतिमा है। इस प्रतिमा में सामायिक और देशावकासिक व्रत का निरतिचार—दोषरहित पालन किया जाता है। इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक नियमित रूप से तीनों संध्याओं अर्थात् प्रात:, मध्याह्न और सायंकाल में मन, वचन और कर्म से निर्दोष रूप से सामायिक की आराधना करता है। सामायिक शिक्षाव्रत स्वीकार करने वाले को त्रिकाल में सामायिक करना और वह भी निरतिचार करना आवश्यक नही है। वह एक बार या दो बार भी कर सकता है और उसमें यदि कोई अतिचार-दोष लगे तो वह भी क्षम्य है। किन्तु सामायिक प्रतिमा में अतिचार लगना क्षम्य नही है। इस प्रतिमा का समय तीन मास है।

1.10.4. पौषधोपवास प्रतिमा (Pausadha)

श्रावक की चौथी प्रतिमा का नाम पौषधोपवास प्रतिमा है। श्रावक के लिए कहा गया है कि वह अष्टमी, चतुर्दसी, पूर्णमासी आदि पर्व तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास करे। श्रावक के बारह व्रतों में पौषध करना ग्यारहवां व्रत है और प्रतिमा की दृष्टि से वह चतुर्थ प्रतिमा है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि पौषधोपवास शिक्षाव्रत में नरमी से पालन किया जाता है अर्थात् सामान्यत: पौषधधारी दिन में भी नीद आदि ले लेता है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि में भी दोष लग सकता है जबकि पौषधोपवास प्रतिमा में पूर्णता से पालन किया जाता है। किसी भी प्रकार के दोष की संभावना नही रहती। पौषध के समय वह पूर्ण श्रमण-साधुवत् बन जाता है। यह गृहस्थ के विकास की चौथी भूमिका है। इस प्रतिमा का समय चार मास है।

1.10.5 कायोत्सर्ग प्रतिमा (Kayotsarga)

श्रावक की पांचवी प्रतिमा का नाम कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसे नियम प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें श्रावक के लिए रात्रि मे कायोत्सर्ग करने का विधान है। इस प्रतिमा में पूर्व स्वीकृत चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए श्रावक पांच विशेष नियमों को स्वीकार करता है—1. स्नान नहीं करना। 2. रात्रि-भोजन नहीं करना। 3. धोती की लांग नही लगाना। 4. दिन में पूर्ण ब्रह्मचारी रहना। 5. रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना।

इस प्रतिमा में मुख्य रूप से काम की आसक्ति, भोग की आसक्ति और देह की आसक्ति को कम करने का प्रयास किया जाता है।

1.10.6 ब्रह्मचर्य प्रतिमा (Celibacy)

श्रावक की छठी प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। पांचवी प्रतिमा में श्रावक दिन में मैथुन सेवन का त्याग करता है किन्तु रात्रि में इसका नियम नही होता है। पांचवी प्रतिमा के अभ्यास से श्रावक अपनी काम वासना पर विजय पाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है और इस छठी प्रतिमा में वह मैथुन से सर्वदा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु वह स्त्री के साथ एकान्त में नहीं बैठता, स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता, शृंगार नही करता तथा वासना को उत्तेजित करने वाले पदार्थों का सेवन नही करता।

1.10.7 सचित्त-त्याग प्रतिमा (Abstinence from live food)

श्रावक की सातवी प्रतिमा का नाम सचित्त आहार-त्याग प्रतिमा है। छठी प्रतिमा में श्रावक जहां अपनी काम-वासना पर विजय प्राप्त करता है, वही सातवी प्रतिमा में वह अपनी भोगासक्ति पर विजय प्राप्त करता है। वह सब प्रकार की सचित्त वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता है। केवल अचित्त आहार का ही सेवन करता है। इस प्रतिमा का समय सात मास है।

1.10.8 आरम्भ-त्याग प्रतिमा (Abstinence from activities involving injury to life)

श्रावक की आठवी प्रतिमा का नाम आरम्भ-त्याग प्रतिमा है। सातवी प्रतिमा तक श्रावक अपने व्यक्तिगत जीवन में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

काफी संयमित हो जाता है किन्तु पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों से वह मुक्त नही हो पाता, अत: परिवार का निर्वहन करने के लिए व्यवसाय आदि कार्य उसे करना पड़ता है। जिसके कारण वह आरम्भ (हिंसा) से पूर्णतया बच नही पाता है। इस आठवी प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक अपने पारिवारिक, सामाजिक आदि उत्तरदायित्वों को अपने ज्येष्ठ पुत्र या अन्य किसी उत्तराधिकारी को संभला देता है और स्वयं व्यवसाय आदि से निवृत्त होकर अपना अधिकांश समय धर्माराधना में व्यतीत करता है। इस प्रतिमा में श्रावक स्वयं तो व्यवसाय आदि में आरम्भ नही करता, किन्तु अपने पुत्र आदि को यथायोग्य पारिवारिक और व्यावसायिक मार्गदर्शन देता रहता है तथा अपनी सम्पत्ति पर भी स्वामित्व रखता है। इस प्रकार इस प्रतिमा में श्रावक आरम्भ का त्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं करता। इसकी अवधि आठ मास की है।

1.10.9 प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा (Abstinence from activities through deputies)

श्रावक की नवी प्रतिमा का नाम प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा है। प्रेष्य का अर्थ सेवक, नौकर-चाकर है। इस प्रतिमा में श्रावक नौकर-चाकर आदि दूसरों से भी आरम्भ (हिंसा) करवाने का त्याग कर देता है। इस प्रतिमा का समय नौ मास है।

1.10.10 उद्दिष्टभक्त त्याग प्रतिमा (Abstinence from food prepared for oneself)

श्रावक की दसवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टभक्त-त्याग प्रतिमा है। उद्दिष्टभक्त का अर्थ है—अपने उद्देश्य से बनाया गया आहार। इस प्रतिमा में श्रावक अपने निमित्त बनाये गए आहार को ग्रहण करने का त्याग कर देता है। वह अपने बालों का शस्त्र से मुण्डन करवाता है, किन्तु शिखा-चोटी अवश्य रखता है। घर संबंधी किसी भी प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर 'मैं जानता हूँ' या 'मैं नही जानता'—इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलता है।

1.10.11 श्रमणभूत प्रतिमा (Conduct like that a monk)

श्रावक की ग्यारहवी प्रतिमा का नाम श्रमणभूत प्रतिमा है। श्रमणभूत का अर्थ है—श्रमण-सदृश। इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक घर में रहते हुए भी श्रमण जैसा आचरण करता है। वह बालों का मुण्डन करवाता है या लोच करवाता है। साधु की तरह ही पात्र लेकर ज्ञातिजनों के घर भिक्षा के लिए जाता है। वह हर घर से भिक्षा नहीं लेता है। वह अपना परिचय श्रमणोपासक के रूप में ही देता है। उसका हर आचार और व्यवहार श्रमण जैसा होता है। यह श्रावक की उत्कृष्ट कोटि की प्रतिमा है। इसका समय ग्यारह मास का है। श्रावक इन प्रतिमाओं की साधना को क्रमश: स्वीकार करता है। पहली प्रतिमा का समय एक मास, दूसरी प्रतिमा का समय दो मास, तीसरी प्रतिमा का समय तीन मास, इसी प्रकार क्रमश: ग्यारहवीं प्रतिमा का समय ग्यारह मास है। जैसे-जैसे श्रावक आगे की प्रतिमा को स्वीकार करता है, उसकी भावधारा विशुद्ध होती जाती है। आगे की प्रतिमा में जाने पर भी उसे पहले वाली प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है। इन प्रतिमाओं के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम छ: प्रतिमाओं को धारण करने वाला जघन्य श्रावक, सात से नौ तक इन तीन प्रतिमाओं को धारण करने वाला मध्यम श्रावक तथा दसवी और ग्यारहवी प्रतिमा को स्वीकार करने वाला उत्तम श्रावक कहलाता है। पंडित आशाधरजी ने प्रथम छ: प्रतिमाधारी को गृहस्थ, सात से नौ—इन तीन प्रतिमाधारी को वर्णी या ब्रह्मचारी तथा दसवी और ग्यारहवी प्रतिमाधारी को भिक्षुक कहा है।

बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. श्रावक किसे कहते हैं?
2. गुणव्रत किसे कहते हैं?
3. शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?
4. प्रतिमा किसे कहते हैं?
5. श्रमणभूत प्रतिमा से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. श्रावकाचार पर एक निबन्ध लिखें?
2. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई-3.2 जैन जीवनशैली, संलेखना : संथारा
(Jain Life-Style, Sanlekhana : Santhara)

संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 जैन जीवनशैली
2.3 जीवनशैली के नौ सूत्र
2.4 संलेखना : संथारा
2.5 संलेखना का अर्थ
2.6 संलेखना और संथारा में अन्तर
2.7 संथारा के प्रकार
2.7.1 सागारी संथारा
2.7.2 सामान्य संथारा
2.8 संलेखना : संथारा कब करना चाहिए
2.9 संलेखना की विधि
2.10 संथारा की विधि
2.11 संलेखना : संथारा के अतिचार
2.12 संलेखना : संथारा का महत्त्व
2.13 संथारा आत्महत्या नही है
2.14 बोध प्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- ❖ जैन जीवनशैली को समझ सकेंगे।
- ❖ अच्छे जीवन जीने के नौ सूत्र प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ जीने की कला के साथ-साथ मरने की कला को जान सकेंगे।
- ❖ संलेखना : संथारा का विस्तार से ज्ञान कर सकेंगे।
- ❖ संथारा आत्महत्या नही है, इस सच्चाई का बोध कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

व्यक्ति जन्म लेता है, जीवन जीता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है पर जीवन कैसे जीना चाहिए और मृत्यु का वरण कैसे करना चाहिए, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। भगवान महावीर ने अच्छा जीवन जीने और समाधि-पूर्वक मृत्यु का वरण करने की कला सिखलाई। सप्त व्यसनों से मुक्त रहकर तथा जैन जीवनशैली के नौ सूत्रों का अभ्यास कर व्यक्ति अच्छा और शांति का जीवन जी सकता है। इसी प्रकार संलेखना और संथारा समाधिमरण की प्रक्रिया है। संलेखना में व्यक्ति अपने शरीर और कषाय को कृश करता है और अन्त में मृत्यु का समय निकट आने पर साहसपूर्वक जीवनभर के लिए आहार का त्याग कर संथारा स्वीकार करता है। इस इकाई में जैन जीवनशैली के नौ सूत्रों का तथा संलेखना और संथारा की विधि का विवेचन किया जा रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.2 जैन जीवनशैली (Jain Life-Style)

जन्म और मृत्यु जीवन के दो किनारे हैं। उन पर हमारा अधिकार नही है। कब, कहाँ, किस रूप में जन्म लेना या मृत्यु को प्राप्त करना, यह व्यक्ति के वश में नही है। जन्म और मृत्यु के बीच का जो जीवन है, उस पर व्यक्ति का अधिकार है। उस जीवन को व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जी सकता है। अच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक है—अच्छी जीवन-शैली का होना। शैली शब्द शील से बना है। शील का अर्थ है—स्वभाव। संस्कृत-अंग्रेजी कोश में शैली का अर्थ—बिहेवियर-व्यवहार किया गया है। जीवनशैली से तात्पर्य है—जीवन का व्यवहार अथवा जीवन की कार्यप्रणाली। एक गृहस्थ की जीवनशैली में कुछ सहज अच्छे संस्कार बन जाएँ, यह अपेक्षित है।

प्राचीन आचार्यों ने जैन गृहस्थ के लिए एक जीवनशैलो निर्धारित की, जिसमें सप्त व्यसन के परिहार की बात थी। सप्त व्यसन हैं—1. शराब नही पीना, 2. मांस नहीं खाना, 3. जुआ नहीं खेलना, 4. शिकार नहीं करना, 5. चोरी नहीं करना, 6. वेश्यागमन नही करना तथा 7. परस्त्रीगमन नही करना।

उस समय यह एक जीवनशैली बन गई थी कि जो जैन श्रावक होगा, वह इस आधार पर चलेगा। वही शैली आज तक चली आ रही है। पर इस बदलते हुए युग में, समाज की बदलती हुई अवधारणाओं में जीवनशैली भी विकृत होती जा रही है अत: उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

आचार्य तुलसी ने इस विषय पर चिंतन किया और एक जैन गृहस्थ की जीवनशैली का निर्धारण किया, जिसमें जीवनशैली के मुख्य नौ सूत्र हैं। उनका मानना है कि इस जैन-जीवनशैली में जन-जीवनशैली अर्थात् मानव मात्र की जीवनशैली बनने की क्षमता है। जो भी इस जीवनशैली को अपनाएगा, वह सुख और शांति का जीवन जी सकेगा।

2.3 नवसूत्री जैन जीवनशैली (Nine Elements of Jain Life-Style)

जैन जीवनशैली के नौ सूत्र निम्नलिखित हैं—

1. सम्यक् दर्शन,	2. अनेकान्त,	3. अहिंसा,
4. समण-संस्कृति,	5. इच्छा-परिमाण,	6. सम्यक् आजीविका,
7. सम्यक् संस्कार,	8. आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति,	9. साधर्मिक वात्सल्य।

2.3.1 सम्यक् दर्शन (Right Faith)

जैन जीवनशैली का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन अर्थात् सही एवं सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास। मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कभी भी अच्छा जीवन नही जी सकता। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है दृष्टिकोण विधायक बने तथा निषेधात्मक भाव दूर हों। जिस व्यक्ति के तीव्रतम कषाय उपशान्त होते हैं, उसी का दृष्टिकोण सम्यक् होता है। जो छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होता रहता है, वह जीवन को सही रूप में समझ और जी नही सकता। सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। अन्धानुकरण एवं अंधविश्वास की प्रवृत्ति से उसे छुटकारा मिलता है। अत: जीवनशैली का प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण आयाम है—सम्यक् दर्शन।

2.3.2 अनेकान्त (Non-Absolutism)

जैन जीवनशैली का दूसरा सूत्र है—अनेकान्त। आग्रह-विग्रह का मूल कारण है—एकान्त दृष्टिकोण। जहाँ अनेकान्त का सिद्धान्त सामने होता है, वहाँ आग्रह-विग्रह टिक नहीं सकते। निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण आग्रह होता है। अनेकान्त सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास करता है, जिससे 'मैं जो कहता सत्य वही है, तूँ जो कहता सत्य नहीं है' ऐसा आग्रह नही पनपता। अनेकान्तिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हर कथन में सत्य खोजने का प्रयास करता है। अनेकान्त विवादास्पद प्रसंगों में सामंजस्य तथा समन्वय की मनोवृत्ति का विकास करता है। यह जिसकी जीवनशैली का अंग बन जाता है, उसके आवेश समाप्त हो जाते हैं। सामुदायिक जीवन भी अच्छा बन जाता है। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नही अपितु अनेकान्तिक जीवनशैली के कारण हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित कर लेता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.3.3 अहिंसा (Non-violence)

जैन जीवनशैली का तीसरा सूत्र है—अहिंसा। हिंसा और जीवन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता अत: एक गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। जीवन-यापन के लिए हिंसा अपरिहार्य है। अहिंसक जीवनशैली से तात्पर्य पूर्ण अहिंसक बनने से नहीं अपितु अनावश्यक की जाने वाली हिंसा को छोड़ने से है। हिंसा का अल्पीकरण करने से है।

❖ हिंसा के अल्पीकरण का पहला प्रयोग है—अनावश्यक हिंसा का वर्जन करना।
❖ हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है—आक्रामक वृत्ति का परित्याग करना।
❖ हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है—आत्महत्या का परित्याग करना।
❖ हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है—भ्रूणहत्या का परित्याग करना।

अहिंसक जीवनशैली में इन चारों का बहुत महत्त्व है। अहिंसक जीवनशैली से मानवीय संबंधों का विकास होता है, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों का विकास होता है। मैत्री और करुणा का विकास होता है।

2.3.4 समण संस्कृति (Saman Sanskriti)

जैन जीवनशैली का चौथा सूत्र है—समण संस्कृति। समानता, उपशमभाव और श्रमशीलता का संगम समण संस्कृति का प्राण है। समानता की भावना से मानवीय एकता की भावना को बल मिलता है तथा जातीय छुआछूत की समाप्ति होती है। उपशमभाव आध्यात्मिक विकास के लिए जितना आवश्यक है, अच्छा जीवन जीने के लिए भी उतना ही जरूरी है। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के बिना कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमनिष्ठा के संस्कारों से ही संभव है। श्रमशीलता के अभाव से न तो शारीरिक स्वास्थ्य सुरक्षित रह सकता है और न मानसिक प्रसन्नता बनी रह सकती है। इसीलिए सम, शम और श्रम प्रधान जीवनशैली को ही समण संस्कृति में स्थान दिया गया है।

2.3.5 इच्छापरिमाण (To Limit the Desire)

जैन जीवनशैली का पांचवां सूत्र है—इच्छा का परिमाण। जब तक जीवन में इच्छा-परिमाण की बात नहीं आती तब तक अहिंसा का विकास नही हो सकता। आज वैश्विक स्तर पर कुछ समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं, उनमें से कुछ हैं—

❖ पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा का अभाव।
❖ प्रसाधन सामग्री के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण।
❖ विसर्जन शून्य अर्जन।
❖ पदार्थ के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति।

इन समस्याओं का समाधान हर स्तर पर खोजा जा रहा है। 'इच्छा-परिमाण' इसका अच्छा समाधान है। जब जीवन में इच्छाओं का सीमाकरण हो जाता है तो पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा स्वत: हो जाती है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का परिहार होता है, अर्जन के साथ विसर्जन की मनोवृत्ति का विकास होता है तथा पदार्थ के प्रति अनासक्ति की चेतना जागृत होती है।

2.3.6 सम्यक् आजीविका (Right Livelihood)

जैन जीवनशैली का छठा सूत्र है—सम्यक् आजीविका। वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ का संबंध जीवन-यापन से है। अर्थ के अभाव में जीवन-यापन असंभव है। अर्थ-प्राप्ति के लिए व्यक्ति व्यवसाय करता है किन्तु अर्थ के प्रति बढ़ती हुई लालसा उसके व्यवसाय को सम्यक् नहीं रहने देती। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मनोवृत्ति के कारण आज अर्जन के तरीके सही नहीं हैं, जिसके कारण उग्रवाद, आतंकवाद, डकैती, अपहरण, हत्या आदि घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अत: आवश्यक है आजीविका की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए। सम्यक् आजीविका का सिद्धान्त स्वस्थ समाज का दर्शन है। इसके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❖ धोखाधड़ी वाले व्यवसाय।
❖ लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसाय।
❖ पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले व्यवसाय।

जैन जीवनशैली व्यवसाय में साधन-शुद्धि की प्रेरणा देती है। इससे व्यावसायिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का समाधान स्वत: होता है।

2.3.7 सम्यक् संस्कार (Right Impressions)

जैन जीवनशैली का सातवां सूत्र है—सम्यक् संस्कार। वैदिक परम्परा के अनुसार जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जीवन में सोलह संस्कारों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इनमें से अनेक संस्कार जैन परिवारों में भी मान्य हैं। उन संस्कारों, पर्व, उत्सवों को जैन संस्कार विधि से मनाना चाहिए। जैन संस्कार विधि संयम और सादगी की प्रतीक है। आज बच्चों में, बड़ों में पाश्चात्य संस्कृति हावी होती जा रही है, वे अपनी भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। बड़ों का विनय करना, उन्हें प्रणाम करना, उनकी आज्ञा का पालन करना मात्र उपदेश रह गया है। इसलिए जैन जीवनशैली का एक सूत्र रखा गया है—सम्यक् संस्कार। हमारी जीवनशैली संस्कारी हो।

2.3.8 आहारशुद्धि व व्यसनमुक्ति (Take Pure Food and Free From Addiction)

जैन जीवनशैली का आठवां सूत्र है—आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति। स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए आहारशुद्धि बहुत आवश्यक है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य की वृद्धि में भी आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति की प्रमुख भूमिका है। आवेश और आवेग पर नियंत्रण रखने के लिए तथा अपराधों से बचने के लिए भी आहारशुद्धि आवश्यक है।

श्रावक की चर्या सब प्रकार के व्यसन से मुक्त होनी चाहिए। उसके खान-पान में शराब, मांस और अण्डो का समावेश या इनका मिश्रण भी नहीं होना चाहिए। पानपराग, गुटखा, चुटकी, जर्दा, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सम्पर्क भी सदा वर्जित रहना चाहिए। इंग्लैण्ड के प्रोफेसर हैगे ने अपनी पुस्तक 'यूरिक एसिड और रोगों का कारण' में लिखा है—मांस और अण्डे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, अनिद्रा, मधुमेह, नेत्रविकार आदि अनेक बीमारियाँ हो सकती हैं। उनके सेवन से बौद्धिक और भावनात्मक विकास भी रुक जाता है। अत: आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति का अभ्यास स्वस्थ रहने का एक बहुत बड़ा उपाय है।

2.3.9 साधर्मिक वात्सल्य (Brotherhood)

जैन जीवनशैली का नौवां सूत्र है—साधर्मिक वात्सल्य। साधर्मिक वात्सल्य जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आज के युग में इसे भाईचारे का रूप दिया जा सकता है। एक ही धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोगों के प्रति भाईचारे का व्यवहार करना साधर्मिक वात्सल्य है। साधर्मिक व्यक्ति की विशेषताओं का खुले मन से गुणगान करना, धर्म के क्षेत्र में अस्थिर साधर्मिक को प्रेरणा देकर धर्म में पुन: स्थिर करना तथा उनके प्रति आत्मीयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इससे जातीय सद्भाव, साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ता है।

इस प्रकार यह नवसूत्री जैन जीवनशैली एक चमत्कारिक जीवनशैली है। इसे अपनाने वाले व्यक्ति स्वस्थ समाज-संरचना की इकाई बन सकते हैं।

2.4 संलेखना : संथारा
(Holy Death by Gradual Fasting : Death While in Meditation with fasting)

जन्म और मरण जीवन के दो किनारे हैं। व्यक्ति जन्म लेता है, जीवन जीता है और आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह एक शाश्वत सत्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का अनिवार्य संबंध है। जीवन के अगल-बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है। जीवन के पश्चात् मृत्यु निश्चित है। कोई भी इसका अपवाद नही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने जीने की कला सिखाने का प्रयास किया है। जीवन कैसे जीना चाहिए? इस विषय पर बहुत कहा गया है, बहुत लिखा गया है। पर मरने की भी कोई कला होती है, कैसे मरना चाहिए? इस विषय पर बहुत कम लिखा गया।

भगवान महावीर ने जीने की कला सिखायी उसी तरह मरने की कला भी सिखायी। संलेखनापूर्वक समाधिमरण का वरण वही कर सकता है, जो मरने की कला सीख चुका है। श्रावक के लिए बारह व्रतों की आराधना करना तथा श्रमण के लिए पांच महाव्रतों की आराधना करना जीने की कला है और संलेखनापूर्वक जीवन-यात्रा का समापन मरने की कला है।

2.5 संलेखना का अर्थ (Meaning of Sanlekhana)

संलेखना शब्द 'सम्' और 'लेखना'—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम् का अर्थ है—सम्यक् और लेखना का अर्थ है—कृश करना। आचार्य अभयदेव ने संलेखना को परिभाषित करते हुए लिखा है—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को कृश (दुर्बल) किया जाता है, वह संलेखना है। शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव संलेखना है। संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है कि उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती।

2.6 संलेखना और संथारा में अन्तर (Difference between Sanlekhana and Santhara)

संलेखना और संथारा दोनों ही समाधिमरण की प्रक्रियाएँ हैं। संथारा मृत्यु पर्यन्त-आजीवन किया जाता है। जीवन भर के लिए संथारा स्वीकार करना आसान कार्य नही है अत: संथारा की तैयारी के लिए पहले संलेखना करना आवश्यक है। संथारे की पूर्व तैयारी के लिए संलेखना का अभ्यास किया जाता है, तत्पश्चात् संथारे की योग्यता, क्षमता, मनोबल आदि को देखकर आजीवन संथारा ग्रहण किया जाता है। दोनों का फल समाधिमरण है। इस दृष्टि से संलेखना और संथारा में अन्तर यही है कि संलेखना कारण है और संथारा उसका कार्य है। संलेखना एक प्रकार से समता की साधना का अभ्यास करना है तथा संथारा पूर्वोक्त अभ्यास को कार्यरूप में परिणत करना है।

2.7 संथारा के प्रकार (Types of Santhara)

समाधिमरण को संथारा कहते हैं। जैन ग्रन्थो में इसके दो प्रकार बताये गए हैं—1. सागारी संथारा और 2. सामान्य संथारा।

2.7.1 सागारी संथारा (Fasting with Limit)

सागारी का तात्पर्य है—आगार (छूट, विकल्प) सहित। संथारा का अर्थ है त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग। जब अकस्मात् जीवन में ऐसी कोई विपत्ति उपस्थित हो जाती है, जिसमें से जीवित बच पाना संभव प्रतीत नहीं होता, जैसे—आग लग जाना, नदी में गिर जाना, सामने से शेर आदि हिंसक पशुओं का आ जाना आदि। ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जब मौत सामने दिखाई देती है, उस समय जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा कहलाता है। यह संथारा मृत्युपर्यन्त के लिए नही होता। यदि वह उस विकट परिस्थिति से बच जाता है तो वह अपना जीवनक्रम यथावत् चालू रख सकता है। जब तक परिस्थिति समाप्त नहीं होती तब तक के लिए यह संथारा होता है। परिस्थिति विशेष में यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसका मरण भी संथारापूर्वक होने से उसे समाधिमरण कहा जाता है।

2.7.2 सामान्य संथारा (Life-long fasting)

जब व्यक्ति वृद्ध हो जाता है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है, असाध्य रोगों के कारण जीने की कोई आशा नही रहती, मृत्यु सम्मुख दिखाई देती है तब व्यक्ति सामान्य संथारा ग्रहण करता है। सामान्य संथारा तीन प्रकार का होता है— 1. भक्त-प्रत्याख्यान, 2. इंगिणीमरण, 3. पादोपगमन।

1. भक्त-प्रत्याख्यान (Giving up of food till death)

जीवन भर के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग कर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान संथारा है। आहार चार प्रकार का होता है—अशन (अनाज आदि भोजन), पान (पेय पदार्थ), खादिम (सूखे मेवे), स्वादिम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(मुखवास) आदि। त्रिविध आहार का त्याग करने वाला पानी की छूट रखता है तथा चतुर्विध आहार का त्याग करने वाला पानी भी नही पीता।

2. इंगिणीमरण (In this, movement is restricted to the place, limbs movement should be as less as possible)

भक्त-प्रत्याख्यान में त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग अनिवार्य है। भक्त-प्रत्याख्यान संथारा करने वाला एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक गांव से दूसरे गांव भी जा सकता है तथा किसी भी प्रकार की शारीरिक सेवा पारिवारिक या अन्यजनों से ले सकता है। इंगिणीमरण संथारा स्वीकार करने वाला एक निश्चित भू-भाग में रहता है, जैसे अपने कमरे तक या घर तक तथा किसी भी प्रकार की सेवा वह किसी से भी नहीं लेता, अपने सभी कार्य स्वयं करता है।

3. पादोपगमन (In this, movement is completely stopped till death)

पादोपगमन संथारा उत्कृष्ट संथारा है। इसमें चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है तथा संथारा करते समय वह जिस स्थान विशेष पर होता है, वही पर कायोत्सर्ग में स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष से टूटकर नीचे गिरी हुई डाली बिल्कुल स्थिर रहती है, उसी प्रकार इस संथारा में साधक पूर्ण स्थिर रहता है। हलन-चलन नहीं करता। वह अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है। इस प्रकार इस संथारा को स्वीकार करने वाला मृत्यु-पर्यन्त शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह स्थिर रहता है।

2.8 संलेखना : संथारा कब करना चाहिए (When one practice Sanlekhana : Santhara)

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—जब तक शरीर में शक्ति है, उससे नए-नए गुणों की उपलब्धि हो रही है, तब तक जीवन का पोषण करना चाहिए। जब वह न हो तब विचारपूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर देना चाहिए अर्थात् संलेखना-संथारा स्वीकार कर लेना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा—जिसका प्रतिकार न किया जा सके ऐसे असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग के समय, दुर्भिक्ष, जरा एवं रुग्णस्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर संलेखना-संथारा स्वीकार करना चाहिए। संलेखना ग्रहण करने से पूर्व इस बात की जानकारी करनी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर रुग्ण हो गया है पर जीवन की अवधि लंबी हो तो संलेखना-संथारा करने का विधान नही है।

प्रश्न हो सकता है कि संलेखना-संथारा अन्तिम समय में ही क्यों किया जाता है? जैनदर्शन में यह कहा गया—**'जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उवज्जइ'** अर्थात् जीव जिस लेश्या (भावधारा) में मरता है, वह अपने अगले जन्म में उसी लेश्या का धारक होकर देव, मनुष्य आदि गतियों में उत्पन्न होता है। इस प्रकार समाधिमरण को प्राप्त होने वाले व्यक्ति का पुनर्जन्म निश्चित रूप से अच्छा होता है। हमारा अगला जन्म कैसा होगा, इसे जानने का माध्यम है—मृत्यु के समय हमारी भावधारा कैसी है? भावधारा अच्छी होने पर सुगति, भावधारा खराब होने पर दुर्गति होती है। अत: व्यक्ति को अंतिम समय में अपनी भावधारा अच्छी रखनी चाहिए। अन्तिम समय में धन, परिवार आदि की मोह माया को छोड़ देना चाहिए। किसी के प्रति भी बुरे भाव, राग-द्वेष के भाव नही रखने चाहिए। संथारा भावधारा को अच्छा बनाये रखने का एक उपक्रम है।

2.9 संलेखना की विधि (Process of Sanlekhana)

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित् मतभेद है, पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। संलेखना में जो तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता तथा अप्रशस्त भावों का परित्याग आवश्यक है। तप का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है, उसमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से परिवर्तन किया जा सकता है।

संलेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना गया है। मध्यम काल एक वर्ष का तथा जघन्य काल छ: महीने का है। उत्कृष्ट संलेखना की विधि इस प्रकार है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संलेखना करने वाला प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ (उपवास), षष्ठ (दो दिन का उपवास), अष्टम (तीन दिन का उपवास) आदि तप की उत्कृष्ट साधना करता रहे तथा पारणे में शुद्ध आहार ग्रहण करे। फिर अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से तप करता रहे और पारणे में 'विगय' अर्थात् दूध, दही, घी, तेल, चीनी आदि का परित्याग करे। नौंवें और दसवे वर्ष मे उपवास करे तथा पारणे मे आयंबिल (दिन में एक बार एक ही अनाज को खाना) तप करे तथा आयंबिल में भी ऊनोदरी तप करे। अगले छः माह में उपवास, दो, तीन, चार आदि दिन का उपवास करे तथा पारणे में आयंबिल तप करे। संलेखना के बारहवें वर्ष के संबंध में विभिन्न आचार्यों के अलग-अलग मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी के अनुसार बारहवें वर्ष में ऊष्ण जल के आहार के साथ हायमान आयंबिल तप करे। हायमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में इस स्थिति में पहुंच जाये कि एक दाना अन्न और एक बूंद पानी ग्रहण करे। प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ के अनुसार भी बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार पर आ जाएं तब एक-एक दाना कम करें और अंतिम चरण में अनाज का एक दाना ग्रहण करें। इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुंचने पर अनशन (संथारा) स्वीकार करे।

2.10 संथारे की विधि (Process of Santhara)

संलेखना के पश्चात् संथारा किया जाता है। संथारा की विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य-शुद्ध स्थान में अपना आसन लगायें और फिर पूर्व या उत्तर दिशा में अपना मुंह करके इस प्रकार संथारा स्वीकार करे—सर्वप्रथम तीन बार नमस्कार महामंत्र बोले, फिर वन्दना, इच्छाकारेणं....., तस्स उत्तरी करणेणं......, लोगस्स का पाठ बोले। उसके पश्चात् **अहं भंते! अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि** अर्थात् 'हे भगवन्! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-संथारा का प्रीतिपूर्वक सेवन और आराधना करता हूँ' इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करें। तदुपरान्त मैं अभी से सागारी या आगाररहित संथारा स्वीकार करता हूँ। चारों आहार का त्याग करता हूँ, अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् जो-जो नियम-व्रत ले रखे हैं, उनमें जो त्रुटियां हुई हों, उनकी आलोचना करता है। सभी से क्षमायाचना कर शुद्ध और शल्यरहित हो जाता है।

न केवल अपने पारिवारिक जनों से अपितु अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ देता है। संथारा स्वीकार करने का मतलब है—अपनी आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पण, शरीर से ऊपर उठकर आत्मस्वरूप में पूर्ण तल्लीनता। संथारा स्वीकार करने वाला बाह्य पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है।

इस प्रकार संलेखना के पश्चात् संथारा स्वीकार किया जाता है, किन्तु यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखते हुए संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण का वरण किया जाता है।

2.10 संलेखना : संथारा के अतिचार (Partial transgression of Sanlekhana : Santhara)

बाह्य वस्तुओं से, परिवार से सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर तथा सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की संभावना रहती है, उन्हें अतिचार कहा जाता है, जैसे संथारे में कीर्ति, प्रशंसा, सम्मान, स्वर्ण प्राप्ति आदि की भावना का होना अतिचार है। साधक को इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए।

संलेखना : संथारा के पांच अतिचार हैं—

1. इहलोक-आशंसा प्रयोग—धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना, लौकिक सुख प्राप्ति की इच्छा करना, इहलोक-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

2. परलोक-आशंसा प्रयोग—परलोक सम्बन्धी स्वर्ग-सुख आदि प्राप्ति की इच्छा करना, परलोक-आशंसा अतिचार प्रयोग है।

3. जीवन-आशंसा प्रयोग—अधिक समय तक जीने की आकांक्षा करना, जीवन-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

4. मरण-आशंसा प्रयोग—संलेखना-संथारा की कठिनाई से घबराकर शीघ्र करने की इच्छा करना, मरण आशंसा प्रयोग अतिचार है।

5. कामभोग-आशंसा प्रयोग—कामभोगों के प्राप्ति की आकांक्षा करना, कामभोग-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उक्त प्रकार की इच्छाएँ करने से साधक का संलेखना व्रत दूषित होता है। संलेखना-संथारा की साधना करने वाले साधक को इहलोक या परलोक की आकांक्षा, जीने या मरने की आकांक्षा तथा कामभोगों की आकांक्षा नही करनी चाहिए।

2.12 संलेखना : संथारा का महत्त्व (Significance of Sanlekhana : Santhara)

श्रावक के तीन मनोरथों में 'संथारा' तीसरा मनोरथ है। श्रावक जीवन भर यह संकल्प करता है कि मैं अन्तिम समय में अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-संथारा व्रत स्वीकार करूंगा। अन्तिम समय में संलेखना संथारा पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त होने वाला श्रावक या श्रमण संसार के सभी दु:खों से मुक्त हो जाता है। उसकी निश्चित रूप से सुगति होती है। वह अधिक जन्मों तक संसार में परिभ्रमण नही करता। संथारे के महत्त्व को बताते हुए लिखा गया—जीवन भर लम्बी-लम्बी तपस्या करने से या अहिंसा आदि व्रतों को धारण करने से जो फल प्राप्त नही होता वह फल अन्तिम समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है। इसलिए सभी को यह भावना मन में रखनी चाहिए कि जीवन के अन्तिम समय में मुझे संथारा जरूर आये, भले ही दो मिनिट के लिए ही क्यों न आये। आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना-संथारा ही है।

2.13 संथारा आत्महत्या नहीं है (Santhara is not Sue-side)

समाधिमरण की अवधारणा से अनभिज्ञ कई विज्ञजनों का यह आक्षेप है कि समाधिमरण आत्महत्या है। उनका कहना है कि जैनपरम्परा का यह मानना है कि जीने की आकांक्षा या मरने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए? तो क्या संथारा करना मरने की आकांक्षा नहीं है? जैन दर्शन में संथारा के पीछे रही भावना को यदि सही ढंग से समझ लिया जाए तो यह स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है कि संथारा मरने की आकांक्षा या आत्महत्या नहीं है। व्यक्ति आत्महत्या क्रोध के वशीभूत होकर, सम्मान पर गहरी चोट पहुंचने पर अथवा जीवन से निराश होने पर करता है। ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं। जबकि संथारा चित्त में समत्व की अवस्था है। व्यक्ति आवेश में आकर संथारा नही लेता और न ही मरने की भावना से संथारा लेता है। इसलिए वह आत्महत्या नहीं है।

जिस प्रकार बड़ी सावधानीपूर्वक रोगी की शल्यचिकित्सा करने पर भी यदि रोगी मर जाता है तो डॉक्टर को हत्यारा नही कहा जाता उसी प्रकार संथारा में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नही है। दूसरी बात आत्महत्या करने वाले के मन में मरने की इच्छा रहती है किन्तु संथारा में न जीने की इच्छा होती है और न मरने की आकांक्षा होती है। संथारा स्वीकार करने वाला यह संकल्प स्वीकार करता है कि मैं जीने और मरने की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करूंगा। मरने की आकांक्षा करना समाधिमरण का दोष माना गया है अत: संथारा को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। संथारा में आहार आदि के त्याग द्वारा मृत्यु की चाह नहीं अपितु देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। आत्महत्या जीवन से ऊबकर की जाती है, उसके मूल में कायरता है। जबकि संथारा द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। भय या कायरता नही अपितु साहसपूर्ण सामना है। इस प्रकार संथारा और आत्महत्या का उद्देश्य अलग-अलग होने से संथारा को आत्महत्या नही कहा जा सकता। संथारा समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने की कला है। यह मृत्यु से घबराना नहीं अपितु हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करना है।

2.14 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. जीवनशैली के नौ सूत्र कौन-से हैं?
2. साधर्मिक वात्सल्य से क्या तात्पर्य है?
3. संलेखना किसे कहते हैं?
4. संथारा के कितने प्रकार हैं?
5. संथारा कब करना चाहिए?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन जीवनशैली पर प्रकाश डालें?
2. संलेखना किसे कहते हैं? संलेखना की विधि का विवेचन करें?
3. संथारा किसे कहते हैं? सिद्ध करें कि संथारा आत्महत्या नहीं है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4

ध्यानयोग
(Dhyanyoga)

संवर्ग प्रस्तावना

जैन मनीषियों ने योग पर बहुत ही गहराई से विशद चिन्तन किया है। जैन धर्म मूलत: निवृत्ति प्रधान धर्म है, मोक्ष उसका चरम लक्ष्य है और मोक्ष-प्राप्ति के लिए ध्यान को आवश्यक माना गया है। जैनयोग के दो मुख्य सूत्र हैं—संवर और तप। तप का प्रधान अंग है—ध्यान। इसलिए मोक्ष का मूल साधन ध्यान है। भगवान महावीर ने अपने उपदेशों में ध्यान-साधना पर सर्वाधिक बल दिया। उनके अनुसार ध्यान वह अग्नि है, जो समग्र विजातीय तत्त्वों को भस्म कर आत्मा को प्रकाशमय बना देती है। जन्म-जन्मान्तर की कर्म शृंखला को मिटाने के लिए बहुत बार जन्म लेने की आवश्यकता नहीं अपितु ध्यान की अग्नि को प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता है। मन को एक आलम्बन पर स्थिर करना और फिर योग (प्रवृत्ति) का पूर्ण निरोध करना ही ध्यान है। जैन धर्म में ध्यान की स्वतन्त्र पद्धति रही है, किन्तु बाद में वह अनेक कारणों से विलुप्त-सी हो गई। आचार्य महाप्रज्ञ ने उस विलुप्त पद्धति का पुनरनुसंधान किया और एक सर्वांगीण ध्यान पद्धति का पुरस्सरण किया, जो प्रेक्षाध्यान के नाम से जानी जाती है। इस इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है—1. ध्यान और अनुप्रेक्षा, 2. प्रेक्षाध्यान के अंग और उपसंपदा।

ध्यान और अनुप्रेक्षा
(Meditation and Contemplation)

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 ध्यान
1.3 ध्यान की परिभाषा
1.4 ध्यान के प्रकार
  1.4.1 आर्त्तध्यान
  1.4.2 रौद्रध्यान
  1.4.3 धर्मध्यान
  1.4.4 शुक्लध्यान
1.5 ध्यान के तत्त्व
1.6 ध्यान की सामग्री
1.7 ध्यान की कसौटियां
1.8 सालम्बन ध्यान
  1.8.1 पिंडस्थ ध्यान
  1.8.2 पदस्थ ध्यान
  1.8.3 रूपस्थ ध्यान
  1.8.4 रूपातीत ध्यान
1.9 निरालम्बन ध्यान
1.10 अनुप्रेक्षा
1.11 अनुप्रेक्षा के लाभ
1.12 अनुप्रेक्षा के बारह प्रकार
1.13 बोधप्रश्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.0 उद्देश्य (Objectives)

'ध्यान और अनुप्रेक्षा' इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

- ❖ ध्यान के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- ❖ ध्यान के शुभ और अशुभ होने के कारण को जान सकेंगे।
- ❖ ध्यान का अधिकारी कौन हो सकता है, इससे परिचित हो सकेंगे।
- ❖ ध्यान के लिए आवश्यक निर्देश प्राप्त कर सकेंगे।
- ❖ ध्यान की गहराई में प्रवेश हो रहा है या नही, इसका अनुमान लगा सकेंगे।
- ❖ ध्यान में लिए जाने वाले आलम्बनों का ज्ञान कर सकेंगे।
- ❖ निरालम्बन ध्यान तक पहुंच सकेंगे।
- ❖ अनुप्रेक्षा और उसके प्रकारों को समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—मोक्ष। मोक्ष प्राप्ति का एक माध्यम है—ध्यान। ध्यान शब्द ध्यैं-चिन्तायाम् धातु से निष्पन्न होता है। किन्तु ध्यान का अर्थ चिन्तन नही अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण है। ध्यान के मुख्य चार तत्त्व हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान-फल। ध्यान करने वाली आत्मा ध्याता है, जिस आत्मा का ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है तथा आत्मा की प्राप्ति ही ध्यान का फल है। ध्यान का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता और योग का निरोध। हिंसा करने, चोरी करने, झूठ बोलने आदि में भी एकाग्रता होती है किन्तु यह एकाग्रता गलत दिशा में होने से इसे अशुभध्यान कहा जाता है। सही दिशा में होने वाली एकाग्रता शुभध्यान है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभध्यान हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभध्यान है। ध्यान करने वाले साधक के लिए प्रारम्भ में आलम्बन की आवश्यकता होती है, क्योंकि बिना आलम्बन के चंचल मन स्थिर नही होता। धीरे- धीरे जब साधक ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है, वैसे-वैसे आलम्बन छूट जाते हैं अत: सालम्बन ध्यान और निरालम्बन ध्यान के भेद से ध्यान दो प्रकार का हो जाता है। सालम्बन ध्यान में शरीर के अवयव विशेष या किसी बाह्य पदार्थ का आलम्बन लिया जाता है, उसे पिण्डस्थ ध्यान कहते हैं। मंत्र आदि शब्दों का सहारा लेने पर उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। आत्म-स्वरूप का आलम्बन लेने पर उसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं। रूपातीत ध्यान निरालम्बन ध्यान है। ध्यान के द्वारा जिस सत्य का साक्षात्कार किया गया, उस पर बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाएँ हैं। इनके अभ्यास से साधक का वैराग्य भाव बढ़ता है। संसार की अनित्यता, नश्वरता का बोध होता है। आत्मा आध्यात्मिक विकास के क्रमिक सोपानों पर चढ़ती हुई अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करती है। इस प्रकार इस इकाई में ध्यान, ध्यान के प्रकार, अनुप्रेक्षा आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है।

1.2 ध्यान (Meditation)

भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। यहां के चिन्तकों, विचारकों और मननशील ऋषियों-मुनियों का परम ध्येय सुख प्राप्ति का रहा है। सुख से तात्पर्य भौतिक सुख से नही अपितु आध्यात्मिक सुख से है। इस आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए चित्त की शुद्धि परम आवश्यक है। चित्त-शुद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन है—ध्यान।

जैन साधना-पद्धति में ध्यान को सर्वोपरि स्थान दिया गया है ध्यान की महिमा बताते हुए कहा गया—शरीर में जो स्थान मस्तिष्क का है, वृक्षों में जो स्थान मूल (जड़) का है, वैसे ही समस्त धर्मों का मूल ध्यान है। ध्यान के द्वारा अनन्त जन्मों के संचित कर्म एक क्षण में टूट जाते हैं। जैन दर्शन में निर्जरा अर्थात् कर्मक्षय करने के बारह साधन बताये गए हैं। ध्यान उनमें से एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

1.3 ध्यान की परिभाषा (Definition of Dhyan)

व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से ध्यान शब्द की निष्पत्ति 'ध्यैं चिन्तायाम्' इस धातु से हुई है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'ध्यान' का अर्थ चिन्तन है, किन्तु साधना की दृष्टि से चिन्तन ध्यान नहीं अपितु चिंतन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त कोकिसी एक लक्ष्य पर स्थिर करना या उसका निरोध करना ध्यान है। जैन ग्रन्थों में ध्यान की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं—

❖ मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है।

❖ एक विषय पर मन को स्थिर करना ध्यान है।

❖ मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का निरोध करना ध्यान है।

ध्यान की इन परिभाषाओं में दो बातें मुख्य हैं—मन की एकाग्रता और योग का निरोध।

ध्यान में चंचल मन को सबसे पहले किसी एक विषय पर एकाग्र किया जाता है और फिर धीरे-धीरे मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का निरोध किया जाता है। पूर्ण निरोध की स्थिति तो चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में ही संभव हो पाती है किन्तु उसका आंशिक अभ्यास पहले भी किया जा सकता है। जितनी-जितनी एकाग्रता बढ़ती है, व्यक्ति उतना ही ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है। जैनदर्शन के अनुसार चंचल मन को किसी एक आलम्बन पर टिकाना ध्यान का प्रारम्भ है, पूर्णता नही। उसकी पूर्णता निरोध अवस्था में प्राप्त होती है। मन, वाणी और शरीर—ये तीनों जब निरुद्ध हो जाते हैं तब ध्यान की वास्तविक अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार चंचलता, स्थिरता और निरुद्ध मन की ये तीन अवस्थाएँ हैं। तीनों के अंतर को हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। जब एक दीया हवा में रखा हुआ रहता है तो उसकी लौ बहुत चंचल रहती है। उसी दीये को जब कमरे में जवारहित स्थान पर रख देते हैं तो उसकी लौ स्थिर हो जाती है तथा दीये में स्थित तेल या घी के समाप्त हो जाने पर वह दीया बुझ जाता है, लौ समाप्त हो जाती है। दीये की पहली अवस्था चंचल, दूसरी स्थिर और तीसरी निरुद्ध है। ज्ञान की तुलना हवा में रखे दीये से, एकाग्र ध्यान की तुलना कमरे में रखे निष्प्रकम्प दीये से तथा निरोधात्मक ध्यान की तुलना बुझे हुए दीये से की जा सकती है। इसमें मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

1.4 ध्यान के प्रकार (Four Types of Dhyan)

ध्यान के द्वारा व्यक्ति अपने ध्येय को प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसमें सफल भी होता है। प्रश्न हो सकता है—मन का अपने ध्येय में स्थिर होना ही यदि ध्यान है तो फिर कोई कामी पुरुष किसी स्त्री के रूप में आसक्त होकर उसमें एकाग्र होता है, लोभी धन कमाने की योजना में एकाग्र होता है तथा हत्यारा, चोर आदि अपनी-अपनी योजना में एकाग्र होता है तो क्या इसे भी ध्यान कहा जाएगा। इसका उत्तर है—इसे भी ध्यान कहा जाएगा।

ध्येय शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। शुभ और अशुभ ध्येय के आधार पर ध्यान भी दो प्रकार का हो जाता है—शुभध्यान और अशुभध्यान। जैन दर्शन में ध्यान के चार प्रकार माने गए हैं—1. आर्त्तध्यान, 2. रौद्रध्यान, 3. धर्मध्यान, 4. शुक्लध्यान।

इनमें प्रथम दो ध्यान का अशुभध्यान में तथा अन्तिम दो ध्यान का शुभध्यान में समावेश होता है।

अशुभध्यान में भी मन एक आलम्बन पर एकाग्र होता है इसलिए इसे भी ध्यान संज्ञा दे दी गई है किन्तु इसमें होने वाली एकाग्रता चेतना के विकास के लिए नहीं होती अत: यह अशुभ ध्यान होने से हेय हैं, अकरणीय है। निर्जरा की दृष्टि से किये जाने वाले ध्यान में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का ग्रहण नहीं किया जाता। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में होने वाली एकाग्रता चेतना के विकास में सहयोगी बनती है अत: ये दोनों शुभध्यान होने से उपादेय हैं, करणीय हैं।

जिस प्रकार गाय का दूध भी दूध कहलाता है और थूहर का दूध भी दूध कहलाता है। दोनों ही दूध का रंग सफेद होता है, किन्तु दोनों के कार्य में बड़ा अन्तर होता है। जहां गाय का दूध व्यक्ति का पोषण करता है, जीवनी शक्ति प्रदान करता है, वही थूहर का दूध व्यक्ति के लिए जहर का कार्य करता है। इसी प्रकार ध्यान, ध्यान में भी अन्तर होता है। शुभध्यान की एकाग्रता मोक्ष का कारण बनती है और अशुभध्यान में होने वाली एकाग्रता नरक और तिर्यंच गति का हेतु बनती है। चार ध्यान का विवेचन इस प्रकार है—

1.4.1 आर्त्तध्यान (Concentration due to anguish)

अर्त्ति का अर्थ है—पीड़ा या दु:ख। चेतना की दु:खमय, पीड़ादायक एकाग्र अवस्था को आर्त्तध्यान कहा जाता है। आर्त्तध्यान की अवस्था में व्यक्ति आक्रन्दन करता है, शोक करता है और आंसू बहाता है। आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. इष्टवियोग-चिन्ता—प्रिय व्यक्ति या वस्तु का वियोग न हो जाए या वियोग हो जाने पर पुन: उसके संयोग के लिए चित्त में जो व्याकुलता होती है, एकाग्रता होती है, वह इष्टवियोग-चिन्ता आर्त्तध्यान कहलाता है।

2. अनिष्टसंयोग-चिन्ता—अप्रिय व्यक्ति या वस्तु का संयोग न हो जाए या संयोग हो जाने पर पुन: उसके वियोग के लिए चित्त में जो व्याकुलता होती है, एकाग्रता होती है, वह अनिष्टसंयोग-चिन्ता आर्त्तध्यान कहलाता है।

3. प्रतिकूल वेदना—शारीरिक, मानसिक पीड़ा या रोग होने पर उससे छुटकारा पाने के लिए रात-दिन जो चिन्तन चलता है, उसी में चित्त की जो एकाग्रता होती है, वह प्रतिकूल वेदना आर्त्तध्यान है।

4. भोगलालसा—भोगों की तीव्र लालसा के वशीभूत होकर अप्राप्त भोग्य की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला दृढ़ संकल्प, चिन्तन और चित्त की एकाग्रता भोगलालसा आर्त्तध्यान है।

संसार के अधिकांश प्राणी इस आर्त्तध्यान में ही निमग्न रहते हैं। कही इष्टवियोग का दु:ख है तो कहीं अनिष्ट संयोग की पीड़ा है, कहीं रोग की चिन्ता है तो कहीं काम-भोगों की लालसा प्राणियों को सता रही है। ध्यानयोगी साधक को विशेष रूप से इस आर्त्तध्यान से बचना चाहिए।

1.4.2 रौद्रध्यान (Concentration due to anger)

जिसका चित्त क्रूर और कठोर होता है, वह रुद्र कहलाता है। उसके ध्यान को रौद्रध्यान कहा जाता है। चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को रौद्रध्यान कहा जाता है। आर्त्तध्यान में जहां दीनता-हीनता एवं शोक की प्रबलता रहती है, वहां रौद्रध्यान में क्रूरता एवं हिंसक भावों की प्रधानता रहती है। इसके चार प्रकार हैं—

1. हिंसानुबन्धी—हिंसात्मक कार्य करने में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है। जैसे शिकारी शिकार के प्रति एकाग्र होता है।

2. मृषानुबन्धी—असत्य बोलने में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे मृषानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है। झूठ बोलने वाले को भी बहुत एकाग्र होना पड़ता है।

3. स्तेयानुबन्धी—चोरी करने में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है। चोर यदि एकाग्र न हो तो चोरी करते समय वह पकड़ा जा सकता है।

4. विषय-संरक्षणानुबन्धी—काम-भोग के साधन तथा धन आदि के संरक्षण के प्रति चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे विषय संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहा जाता है।

आर्त्त और रौद्र—दोनों ही ध्यान आत्मा की अधोगति के कारण हैं क्योंकि इनके मूल में राग और द्वेष है। इसलिए इसे अशुभध्यान कहा गया है। राग द्वेष पर विजय प्राप्त करने वाले साधक के लिए इन दोनों ध्यानों को जानकर इन्हें छोड़ना चाहिए। आर्त्त एवं रौद्रध्यान को सिर्फ इसलिए ध्यान माना गया है कि इनमें चिन्तन की एकाग्रता होती है। यह एकाग्रता अशुभ की ओर ले जाने वाली होती है, इससे आत्मा का पतन होता है, इसलिए इसकी गणना तपोयोग के अन्तर्गत नहीं की गई है। वास्तव में धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ही ध्यान की कोटि में रखा गया है।

1.4.3 धर्मध्यान (Concentration regarding the nature of reality)

धर्म का अर्थ है—आत्मा को पवित्र बनाने वाला तत्त्व। जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं। आत्मशुद्धि के उन साधनों में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है। यह आत्म-विकास का प्रथम चरण है क्योंकि इस ध्यान से जीव का राग-भाव मन्द होता है। स्थानांगसूत्र में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एवं धर्म से युक्त कहा गया है। धर्मध्यान उसके होता है जो दस धर्मों का पालन करता है, इन्द्रियजयी होता है तथा समस्त प्राणियों के प्रति करुणाभाव रखता है। धर्मध्यान के चार प्रकार बताये गए हैं—1. आज्ञा-विचय, 2. अपाय-विचय, 3. विपाक-विचय, 4. संस्थान-विचय।

1. आज्ञा-विचय—आज्ञा का अर्थ है—वीतराग तीर्थंकर के द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व, मार्ग, उपदेश आदि तथा विचय का अर्थ है—विचार करना, चिन्तन करना। अरिहन्त भगवान द्वारा प्रदत्त उपदेश पर अपने चित्त को एकाग्र करना आज्ञाविचय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

धर्मध्यान है। इस ध्यान में तीर्थंकर की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए इस प्रकार चिन्तन किया जाता है कि यह वीतराग वाणी परम सत्य है। यही संसार सागर से पार उतारने वाली तथा परम कल्याणकारी है। इस प्रकार आगम में निरूपित तत्त्वों का आलम्बन लेकर उनका साक्षात्कार करने का प्रयत्न आज्ञा विचय ध्यान है।

2. अपाय-विचय—अपाय का अर्थ है—दोष। दोष क्या है? उनका स्वरूप क्या है? उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है? इस प्रकार दोषों की विशुद्धि के बारे में चिन्तन करना अपाय विचय ध्यान है। इसमें ध्याता अपाय अर्थात् दु:ख के हेतुओं की खोज करता है। दु:ख का हेतु है—कर्म। अत: उन कर्म प्रकृतियों की खोज करना जो दु:ख का हेतु बनती हैं। दोषों के दुष्परिणामों का चिन्तन करना और उससे बचने की भावना करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

3. विपाक-विचय—विपाक का अर्थ है—कर्मफल। कर्म प्रतिक्षण उदय में आ रहे हैं और अपना फल दे रहे हैं। अनुभव में आने वाले विपाकों में से कौन-सा विपाक किस कर्म का है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक संभव है, इस प्रकार का चिन्तन करना विपाक विचय धर्मध्यान है। कर्मफल शुभ और अशुभ दोनों प्रकार का होता है। इस ध्यान में साधक दोनों प्रकार के विपाकों को जानकर कर्मबन्ध की प्रक्रिया से छुटकारा पाने के प्रयासों का चिन्तन करता है।

4. संस्थान-विचय—संस्थान का अर्थ है—आकार। इसमें साधक लोक के आकार और स्वरूप का चिन्तन करता है। इसमें एक परमाणु से लेकर विश्व के सभी पदार्थों के संस्थान ध्येय बनते हैं। वस्तुत: यह जगत् उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। पर्याय की दृष्टि से पदार्थों का उत्पाद और व्यय होता रहता है लेकिन द्रव्य की दृष्टि से पदार्थ ध्रौव्य-नित्य ही रहता है। इस प्रकार इस ध्यान में संसार की नित्य-अनित्य पर्यायों का चिन्तन होने से वैराग्य की भावना दृढ़ होती है और साधक शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करने की कोशिश करता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान—ये चारों धर्मध्यान के ध्येय हैं। इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र करने से तथा इनके चिन्तन से चित्त का निरोध होता है, चित्त की शुद्धि होती है इसलिए इनका चिन्तन धर्मध्यान कहलाता है।

1.4.4 शुक्लध्यान (Pure Concentration)

धर्मध्यान से अगला चरण है—शुक्लध्यान। जैसे मैल के दूर हो जाने पर वस्त्र शुक्ल हो जाता है, वैसे ही कषाय-मल से रहित आत्मा का अपने शुद्ध स्वभाव में होने वाला परिणमन भी शुद्ध है। शुक्लध्यान में शुद्ध आत्मा का ध्यान मुख्य होता है इसलिए यह ध्यानयोग की सर्वोत्कृष्ट दशा है। इसमें चित्त की एकाग्रता और निरोध पूर्णरूप से होता है। शुक्लध्यानी साधक के मन की सभी विषय-वासनाएं और कषाय नष्ट हो जाते हैं, परिणामस्वरूप उसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो जाती है। चित्त की निर्मलता और ध्यान की एकाग्रता से साधक की कर्म निर्जरा तीव्रगति से होती है, जिसके कारण अनेक जन्मों से संचित कर्मों का क्षय मुहूर्त्त मात्र (48 मिनिट) में हो जाता है।

आचार्यों ने शुक्लध्यान का विवेचन करते हुए बताया है कि इस ध्यान में बाह्य विषयों के साथ संबंध होने पर भी मन उनकी ओर नहीं जाता, उनसे विरक्त रहता है। इस ध्यान की स्थिति में यदि कोई उसके शरीर पर प्रहार करता है, छेदन-भेदन करता है, तब भी उसके चित्त मे संक्लेश पैदा नही होता। शरीर की पीड़ा होते हुए भी उस पीड़ा की अनुभूति मन को स्पर्श नहीं करती। भयंकर से भयंकर वेदना और उपसर्ग उसके मन को चंचल नही बनाते। उसका चिंतन बाहर से भीतर की ओर चला जाता है। देह होते हुए भी वह स्वयं को देहमुक्त-सा अनुभव करने लगता है। यह पूर्ण समाधि की अवस्था है इसलिए यह सर्वोत्तम ध्यान है। शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं—1. पृथकत्व-वितर्क-सविचार, 2. एकत्व-वितर्क-अविचार, 3. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती, 4. समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति।

इनमें से प्रथम दो ध्यान आठवें से बारहवें गुणस्थान अर्थात् छद्मस्थ योगी के होते हैं। शेष दो ध्यान सर्वज्ञ केवलज्ञानी के होते हैं।

1. पृथकत्व-वितर्क-सविचार—पृथकत्व का अर्थ है—भिन्नता। वितर्क का अर्थ है—श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ है—एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर और एक योग से दूसरे योग पर चिन्तन के लिए प्रवृत्ति करना। यह ध्यान भेद-प्रधान है। इसमें चिन्तन का परिवर्तन होता रहता है। साधक एक विषय का ध्यान करते-करते दूसरे विषय में चला जाता है। मनोयोग से वचनयोग पर और वचनयोग से काययोग पर उसका ध्यान संक्रमित होता रहता है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किन्तु इस संक्रमण से ध्यान में विक्षेप पैदा नहीं होता। यह सहज होता है, इसमें परिवर्तन करना नही पड़ता। ध्यान की इस पृथकत्व और संक्रमणशील स्थिति के कारण ही इसे पृथकत्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान कहा जाता है।

2. एकत्व-वितर्क-अविचार—एकत्व का अर्थ है—अभिन्नता। वितर्क का अर्थ है—श्रुतज्ञान और अविचार का अर्थ है—एक शब्द से दूसरे शब्द पर, एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक योग से दूसरे योग पर चिन्तन के लिए प्रवृत्ति नही करना।

इस शुक्लध्यान में साधक श्रुतज्ञान का आश्रय लेते हुए भी अभेदप्रधान ध्यान में लीन रहता है। वह एक शब्द और अर्थ को लेकर चिन्तन करता है। मन आदि तीन योगों में से किसी एक योग पर अटल रहकर चिन्तन करता है। चिन्तन का परिवर्तन नही करता है। उसका ध्यान निर्वात स्थान पर दीपशिखा के समान अचंचल और निष्कंप होता है।

प्रथम भेद-प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद इस दूसरे अभेद-प्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समूचे शरीर में फैले हुए सांप के जहर को मंत्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह में लाकर स्थापित किया जाता है, वैसे ही सारे संसार के भिन्न-भिन्न विषयों में चंचल और भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा एक विषय पर लाकर स्थिर किया जाता है। एक विषय पर स्थिरता प्राप्त होते ही मन भी सर्वथा शांत और निष्कम्प बन जाता है। परिणामस्वरूप ज्ञान के सभी आवरण हट जाते हैं।

3. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती—इस शुक्लध्यान का अभिप्राय है—काययोग की क्रिया को सूक्ष्म करना। अप्रतिपाती विशेषण इस बात को प्रकट करता है कि इस शुक्लध्यान में प्रवेश करने के बाद साधक वापस नहीं लौटता।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवान का आयुष्य जब एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तब उनके योग-निरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इसमें मनोयोग एवं वचनयोग का पूर्ण निरोध हो जाता है। स्थूल काययोग का भी पूर्ण निरोध हो जाता है। सूक्ष्म काययोग अर्थात् श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्मक्रिया मात्र शेष रहती है। इस अवस्था में पहुंचा हुआ साधक नीचे की अवस्थाओं में नही आता, इसी में स्थिर रह जाता है। अत: इसे सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपाती कहा गया है।

4. समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति—यह शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान मे प्राप्त होता है। जिस समय श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया का भी पूर्ण-निरोध हो जाता है और आत्म-प्रदेशों में किसी भी प्रकार का कंपन नहीं रहता, तब वह ध्यान समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति ध्यान कहलाता है। इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया नही रहती। इस ध्यान के प्रभाव से शेष सब कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष हो जाता है। तीसरे और चौथे शुक्लध्यान में किसी भी प्रकार के श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं होता है अत: ये दोनों निरालंबन ध्यान कहलाते हैं। इन दोनों ध्यान के अतिरिक्त सभी ध्यान चिन्तनात्मक होते हैं। केवलज्ञान की प्राप्ति तक चिन्तनात्मक ध्यान रहता है। केवली के सिर्फ योग-निरोधात्मक ध्यान ही होता है। मुक्त होने से अन्तमुहूर्त्त पहले सर्वप्रथम मनोयोग का, उसके बाद वचनयोग का, उसके बाद काययोग का और उसके बाद श्वासोच्छ्वास का निरोध हो जाता है। तब चौदहवां अयोगीकेवली गुणस्थान आ जाता है और इस अवस्था में आत्मा मुक्त हो जाती है।

इस प्रकार आत्मा की मुक्ति का हेतु है—ध्यान। धर्मध्यान उपाय है शुक्लध्यान का और शुक्लध्यान मुक्ति का साक्षात् साधन है। अत: ध्यानयोग मुक्ति की सहज और साक्षात् साधना है। इसके द्वारा ही आत्मा कर्ममुक्त हो सकती है।

सालम्बन ध्यान (Supportive Meditation)

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान संस्कृति रही है अत: यहां ध्यान-साधना का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से ही रहा है। जैन परम्परा में ध्यान का कितना महत्त्व रहा है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ, चाहे वे खड्गासन में हो या पद्मासन में सदैव ही ध्यानमुद्रा में ही उपलब्ध होती हैं। ध्यानमुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य मुद्रा में नहीं। इससे जैन परम्परा में ध्यान का क्या स्थान रहा है, यह स्पष्ट हो जाता है। जैन आचार्यों ने ध्यान को साधना का मस्तिष्क माना है। जिस प्रकार मस्तिष्क के निष्क्रिय हो जाने पर मानव जीवन का कोई अर्थ नही रह जाता है उसी प्रकार ध्यान के अभाव में साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। अत: साधना का मूल आधार ध्यान है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.5 ध्यान के तत्त्व (Elements of Meditation)

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को ध्यान के तत्त्वों पर अवश्य चिंतन करना चाहिए। ध्यान के चार तत्त्व माने जाते हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल।

1. ध्याता—जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है, उसको ध्याता कहते हैं। ध्यान करने का अधिकारी वही हो सकता है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की हो, मन की चंचलता का निरोध किया हो, वैराग्य और कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास किया हो।

2. ध्येय—जिसका ध्यान किया जाता है, वह ध्येय कहलाता है। इस दृष्टि से आत्मा ही ध्येय है।

3. ध्यान—ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है।

4. ध्यान-फल—ध्यान का फल संवर और निर्जरा है। रागादि दोषों से उत्पन्न होने वाले चार गति के बंधन से मुक्ति एवं समस्त कर्मों से निवृत्ति है।

1.6 ध्यान की सामग्री (Tools of Meditation)

ध्यान का अभ्यास करने वाले को ध्यान के आसन, मुद्रा, समय, स्थान, दिशा, ध्येय विषय आदि ध्यान-सामग्री का ज्ञान होना आवश्यक है। सामग्री के बिना कार्य सिद्ध नहीं होता, यह सहज नियम है। ध्यान की सिद्धि के लिए भी यह नियम अपेक्षित है।

ध्यान के लिए विविध आसनों का विधान किया गया है, जैसे—पद्मासन, अर्ध-पद्मासन, वज्रासन, सुखासन आदि। प्रारम्भ में यह आवश्यक भी है किन्तु ध्यान का अभ्यास परिपक्व होने पर आसन का कोई नियम नहीं है। वही आसन मान्य है, जो ध्यान में बाधा न डाले।

ध्यान के समय दृष्टि को नासाग्र पर टिकाना, रीढ़ की हड्डी—मेरुदण्ड को सीधा रखना, मुख को प्रसन्न रखना तथा श्वास-निःश्वास को मंद करना—ये सब ध्यान की मुद्रा के अंग हैं।

सामान्यतया प्रातःकाल का समय ध्यान के लिए अच्छा माना जाता है, क्योंकि उस समय मन, विचार, वातावरण शांत रहते हैं। फिर भी यह निश्चित नियम नहीं है कि ध्यान प्रातःकाल ही अच्छा होता है। जिस समय भी हमारा मन शांत और प्रसन्न हो ध्यान किया जा सकता है।

ध्यान के लिए शांत, एकान्त और स्वच्छ स्थान सर्वोत्तम माना जाता है। ध्यान के लिए वन, पर्वतशिखर, समुद्र का किनारा आदि अनेक स्थलों का निर्देश किया जाता है, किन्तु ध्यान के स्थान के लिए भी कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। जिस स्थान पर ध्यान करने से राग और द्वेष शांत रहें, वही स्थान ध्यान के लिए अच्छा है।

ध्यान करने वाले साधक का मुख पूर्वदिशा या उत्तरदिशा में होना चाहिए। इन दिशाओं की अभिमुखता ध्यान की सिद्धि में सहायक बनती है।

1.7 ध्यान की कसौटियां (Criterias of Meditation)

ध्यान करने वाले साधक को समय-समय पर अपना परीक्षण करते रहना चाहिए कि उसका ध्यान सिद्ध हो रहा है या नहीं। आचार्य महाप्रज्ञ ने परीक्षण के लिए कुछ कसौटियां निर्धारित की हैं, जिनके आधार पर परीक्षण किया जा सकता है।

1. एकाग्रता का विकास हुआ या नहीं? यदि हुआ है तो किस स्तर तक, कितने क्षणों तक।
2. चित्त जागरूक बना या नहीं? यदि बना तो कितने क्षणों तक वह जागरूक है?
3. कषाय उपशान्त हो रहा है या नहीं?
4. स्वभाव में कोई परिवर्तन हो रहा है या नहीं?
5. क्षमता या संतुलन का विकास हो रहा है या नहीं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. दृष्टिकोण, चिन्तन और व्यवहार में कोई परिवर्तन हो रहा है या नहीं?

7. कुछ सूक्ष्म अनुभव हो रहा है या नहीं?

ध्यान के साथ-साथ इन कसौटियों के आधार पर यदि परीक्षण होता रहे तो ध्यान के क्षेत्र में आगे बढ़ने में सुविधा होती है।

ध्यान के प्रकार (Types of Meditation)

जैन परम्परा में ध्यान-साधना के अन्तर्गत विविध आलम्बनों की चर्चा प्राचीन काल से ही उपलब्ध होती है, क्योंकि प्रारम्भ मे एकाग्रता के लिए किसी-न-किसी विषय का आलम्बन लेना ही पड़ता है। आलम्बन के आधार पर ही धर्मध्यान को आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय के रूप में विभाजित किया गया था, जिनकी चर्चा हम कर चुके हैं। ध्येय की अपेक्षा से भी आचार्यों ने ध्यान के दो भेद किये हैं—सालम्बन ध्यान और निरालम्बन ध्यान।

1.8 सालम्बन ध्यान (Supportive Meditation)

किसी एक वस्तु का आलम्बन लेकर मन को एकाग्र करना सालम्बन ध्यान है। ध्यान के आलम्बन असंख्य हो सकते हैं किन्तु उन्हें मुख्य रूप से चार भागों में वर्गीकृत किया गया है, जो कि धर्मध्यान के ही चार नवीन भेद हैं, वे हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

1.8.1 पिण्डस्थ ध्यान (Meditation on certain objects)

पिण्ड के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता पिण्डस्थ ध्यान है। पिण्डस्थ ध्यान में आलम्बन का विषय सबसे स्थूल होता है। पिण्ड शब्द के दो अर्थ हैं—शरीर और भौतिक वस्तु। पिण्ड शब्द का अर्थ शरीर लेने पर पिण्डस्थ ध्यान का अर्थ होगा—शरीर के अवयवों पर ध्यान केन्द्रित करना, जिसे हम शरीरप्रेक्षा भी कह सकते हैं।

इसमें शरीर के अवयव—सिर, ललाट, तालू, मुंह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय, नाभि आदि आलम्बन बनते हैं। पिण्ड का अर्थ भौतिक तत्त्व करने पर पार्थिवी आदि पांच धारणाएँ भी पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत आ जाती हैं। ये धारणाएँ निम्न हैं—

1. पार्थिवी धारणा—धारणा का अर्थ है अपने ध्येय में चित्त को स्थिर करना। पार्थिवी धारणा में साधक यह चिंतन या कल्पना करता है कि शांत और गंभीर एक विस्तृत समुद्र है। समुद्र के मध्य में हजार पंखुड़ी वाला एक कमल है। उस कमल के मध्य में एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर वह बैठा हुआ है और अपने शुद्ध अर्हत् स्वरूप का अनुभव कर रहा है। उसके कषाय क्षीण हो रहे हैं। यह पार्थिवी धारणा है।

2. आग्नेयी धारणा—पार्थिवी धारणा के पश्चात् साधक आग्नेयी धारणा की साधना करता है। इस धारणा में सिंहासन पर बैठा हुआ योगी यह कल्पना करता है कि उसकी नाभि में सोलह दल वाला कमल है। उसकी कर्णिका में एक महामंत्र 'अर्हम्' है और उसके प्रत्येक दल पर एक-एक स्वर (अ, आ, ई....) है। 'अर्हम्' से धूमशिखा निकल रही है। स्फुलिंग उछल रहे हैं। अग्नि की ज्वाला भभक रही है। उस ज्वाला में उसके हृदय पर स्थित अष्टदल कमल, जो आठ कर्मों का सूचक है, जल रहा है। उस ज्वाला में भस्मीभूत हो गया है। अग्नि शांत हो गई है। यह आग्नेयी धारणा है।

3. मारुती धारणा—मारुती धारणा में साधक कल्पना करता है कि तीव्र वेग से हवा चल रही है। आग्नेयी ध ारणा में कर्मों की जलकर जो राख हो गई थी, हवा के उस तीव्रवेग में वह राख उड़ रही है। हृदय-कमल सफेद, उज्ज्वल हो गया है और आत्मा पर लगी राख हवा के झोंके से साफ हो रही है। यह मारुती धारणा है।

4. वारुणी धारणा—इस धारणा में साधक यह कल्पना करता है कि आकाश में उमड़-घुमड़कर घटाएँ घिर आई हैं, बिजली चमक रही है, बादल गरज रहे हैं, तेज वर्षा हो रही है। चारों ओर जल ही जल हो गया है। इस जल से आत्मा पर लगी हुई अवशिष्ट राख (कर्मरज) भी धुलकर साफ हो गई है। यह वारुणी धारणा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. तत्त्वरूपवती धारणा—इस धारणा में साधक अपनी आत्मा को स्वच्छ, शुद्ध, कर्ममल से रहित, निर्मल देखता और अनुभव करता है। अपनी आत्मा को अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द से सम्पन्न अनुभव करता है। उस सिंहासन पर स्थित मेरी आत्मा शुद्ध-बुद्ध और अरहंत स्वरूप है, इसका अनुभव करता है।

इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान की ये पांच धारणाएँ हैं, जिनके आधार पर मन को अपने ध्येय के निकट लाया जा सकता है। इन धारणाओं के सिद्ध होने पर साधक की आत्मशक्तियां विकसित होती हैं।

1.8.2 पदस्थ ध्यान (Meditation on Holy Chants/Litany)

पद के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता पदस्थ ध्यान है। जिस प्रकार पिण्डस्थ ध्यान में ध्येय भौतिक पिण्ड या शरीर होता है, उसी प्रकार पदस्थ ध्यान में ध्यान का आलम्बन पवित्र मंत्राक्षर, बीजाक्षर होते हैं। **'पदस्थ मन्त्र वाक्यस्थं'** मंत्र वाक्यों में जो स्थित है, वह पदस्थ ध्यान है। इस ध्यान में मुख्य आलम्बन शब्द है। इसमें ऊँ, अर्हम्, नवकारमंत्र आदि मंत्रों का आलम्बन लेकर अनुष्ठान या चिन्तन किया जाता है। इन मंत्रों के अभ्यास से लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ-साथ मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

1.8.3 रूपस्थ ध्यान (Meditation on Jina form)

रूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता रूपस्थ ध्यान है। इस ध्यान में साधक अपने मन को तीर्थंकर अथवा सर्वज्ञदेव पर केन्द्रित करता है। उनके गुणों एवं आदर्शों को अपने समक्ष रखता है। अरिहन्त भगवान के स्वरूप का अवलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान रूपस्थ ध्यान है।

1.8.4 रूपातीत ध्यान (Meditation on transcendental form)

अरूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता रूपातीत ध्यान है। रूपातीत ध्यान का अर्थ है—रूप, रंग से अतीत निरंजन, निराकार ज्ञान-दर्शन और आनन्द-स्वरूप आत्मा का ध्यान। इस अवस्था में ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं।

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों में क्रमश: शरीर, अक्षर, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है, क्योंकि स्थूल ध्येयों के बाद क्रमश: सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन में स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय में कोई अन्तर नही रहता है।

1.9 निरालम्बन ध्यान (Non-supportive Meditation)

'निर्विचारं निरालम्बनम्' निर्विचार (विचारातीत या विकल्पातीत) ध्यान को निरालम्बन ध्यान कहा जाता है। सालम्बन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है। एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार-शून्यता है। यही ध्यान की वास्तविक स्थिति है। रूपातीत ध्यान निरालम्बन ध्यान है। सालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं। निरालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय के बीच कोई भेद नही रहता। निरालम्बन ध्यान के लिए निर्विकल्प चेतना का निर्माण आवश्यक है। ध्याता और ध्येय के बीच जितनी दूरी अधिक होती है, उतने ही विकल्प अधिक आते हैं। दूरी कम होने पर विकल्प कम और दूरी समाप्त होने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। विचार शान्त हो जाते हैं। बाह्य और आन्तरिक दोनों आलम्बन छूट जाते हैं। यही निरालम्बन ध्यान है।

1.10 अनुप्रेक्षा (Contemplation)

आगम साहित्य में दो शब्दों का प्रयोग मिलता है—पेहा (प्रेक्षा) और अणुपेहा (अनुप्रेक्षा)। प्रेक्षा का अर्थ है—गहराई से, तटस्थतापूर्वक केवल देखना। प्रेक्षा में केवल देखना होता है, चिन्तन-मनन करना नही होता। दूसरा शब्द है—अनुप्रेक्षा। 'अनु' उपसर्ग लगते ही प्रेक्षा शब्द का आशय बदल जाता है। इसमें चिन्तन-मनन का समावेश हो जाता है। इस प्रकार प्रेक्षा का अर्थ है निर्विचार होकर केवल देखना और अनुप्रेक्षा का अर्थ है—प्रेक्षा में जो कुछ देखा उस पर विचार करना। अनुप्रेक्षा की अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं। दशवैकालिक चूर्णि में कहा गया—पठित एवं श्रुत अर्थ का मन से चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जाने हुए विषय का मन में पुन: पुन: अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। शरीर आदि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के स्वभाव का पुन: पुन: चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। उत्तराध्ययन के टिप्पण में आचार्य महाप्रज्ञ ने अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ किए हैं—

1. तत्त्व का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।
2. ज्ञात अर्थ का अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।
3. अर्थ का चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।
4. वस्तु के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा सच्चाई को देखना है, सच्चाई पर चिन्तन करना है। अपनी पूर्व धारणाओं, पूर्व संस्कारों को हटाकर जो सत्य और यथार्थ है, उसका चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा के तात्पर्यार्थ को समझाते हुए राजवार्तिक में कहा गया है—जैसे तप्त लोहपिण्ड के भीतर अग्नि प्रविष्ट होकर उसमें समा जाती है, उसी प्रकार पढ़े-सुने या ग्रहण किये हुए पदार्थ को हृदय में आत्मसात कर लेने का नाम अनुप्रेक्षा है।

सत्य का साक्षात्कार करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे 'सजेस्टोलोजी' कहा जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव-पद्धति का प्रयोग है। यह 'ऑटोसजेशन' स्वयं को स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है। इसके द्वारा पुरानी आदतें मिटती हैं, नई आदतों का निर्माण होता है। आधुनिक भाषा में इसे मस्तिष्कीय धुलाई (Brain Washing) कहा जाता है। अनुप्रेक्षा का दूसरा नाम भावना भी है।

1.11 अनुप्रेक्षा का लाभ (Benifits of Contemplation)

उत्तराध्ययन सूत्र में एक प्रसंग आता है। भगवान महावीर से पूछा गया—भंते! अनुप्रेक्षा से जीव क्या प्राप्त करता है, इससे क्या लाभ होता है। महावीर ने उत्तर दिया—अनुप्रेक्षा के द्वारा जीव को अनेक उपलब्धियां होती हैं—

1. अनुप्रेक्षा के द्वारा जीव आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के गाढ़ बन्धन को शिथिल करता है।
2. कर्मों की दीर्घकालीन स्थिति का अल्पीकरण करता है।
3. कर्मों के तीव्र विपाक को मंद करता है।
4. कर्मों के बहुप्रदेशों को अल्पप्रदेशों में बदल देता है।
5. असाता वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता।
6. अनादिकाल से जिस संसार में स्थित है, उसे सीमित कर शीघ्रता से पार कर लेता है।

1.12 अनुप्रेक्षा के प्रकार (Types of Contemplation)

अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत प्राचीन हैं। आचार्य कुन्दकन्द ने बारह अनुप्रेक्षा पर लिखा। स्वामी कार्तिकेय, विनयविजयजी आदि कई आचार्यों ने भी लिखा। बारह अनुप्रेक्षाओं के नान इस प्रकार हैं—

1. अनित्य अनुप्रेक्षा	2. अशरण अनुप्रेक्षा	3. संसार अनुप्रेक्षा
4. एकत्व अनुप्रेक्षा	5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा	6. अशौच अनुप्रेक्षा
7. आश्रव अनुप्रेक्षा	8. संवर अनुप्रेक्षा	9. निर्जरा अनुप्रेक्षा
10. धर्म अनुप्रेक्षा	11. लोक अनुप्रेक्षा	12. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा।

इन बारह अनुप्रेक्षाओं का बार-बार चिन्तन-मनन करके साधक इन संस्कारों से अपनी आत्मा को भावित करता है अत: इन्हें भावना भी कहा जाता है। अनुप्रेक्षा और भावना दोनों शब्द एकार्थवाची हैं।

1. अनित्य-अनुप्रेक्षा (Contemplation on Impermanence)

इस अनुप्रेक्षा में साधक यह चिन्तन करता है कि संसार के सभी पौद्गलिक पदार्थ अनित्य हैं, नाशवान हैं। कोई भी पदार्थ शाश्वत नही है। यहां तक कि व्यक्ति का शरीर भी अनित्य, मरणधर्मा है। संसार में अनेक व्यक्तियो और वस्तुओं के साथ संयोग होता है, जिनके साथ संयोग होता है उनसे वियोग भी निश्चित होता है। संयोग के समय व्यक्ति उनके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रति ममता, मूर्च्छा, आसक्ति करता है किन्तु जब उनका वियोग होता है तो उसे मानसिक दु:ख होता है। यह दु:ख इसलिए होता है कि व्यक्ति **'जहां संयोग है वहां वियोग है'** इस अन्तिम सच्चाई की उपेक्षा करता है। वह संयोग को शाश्वत मान बैठता है। किन्तु जो इस सच्चाई को समझ लेता है कि संयोग शाश्वत नहीं है, वह अपने प्रिय व्यक्ति या वस्तु का वियोग होने पर दु:खी नहीं होता।

अनित्य अनुप्रेक्षा का प्रयोजन चित्त में वस्तु, व्यक्ति का संयोग अशाश्वत है, इस भावना को पुष्ट बनाना है। इस भावना के पुष्ट होने पर साधक वियोग को तो नहीं रोक सकता किन्तु वियोग से होने वाले दु:ख को रोक सकता है। व्यक्ति, वस्तु, संयोग सब कुछ अनित्य हैं, इस अंतिम सच्चाई का अनुभव करना अनित्य अनुप्रेक्षा है।

2. अशरण-अनुप्रेक्षा (Contemplation of Helplessness)

अशरण अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत यह चिन्तन किया जाता है कि संसार में कोई भी शरण देने वाला नहीं है। व्यवहार में यह माना जाता है कि माता-पिता, पुत्र आदि शरण बनते हैं। यह व्यवहार का ही सत्य है, वास्तविक सत्य नहीं। भगवान महावीर ने अशरण अनुप्रेक्षा का सूत्र देते हुए यह कहा—हे साधक! ये स्वजन तुम्हें त्राण-शरण देने में समर्थ नहीं हैं और तुम भी उन्हें त्राण-शरण देने में समर्थ नहीं हो। वास्तविक शरण अपनी आत्मा ही है। जब मौत का बुलावा आएगा तो हमारी रक्षा करने में कोई भी समर्थ नहीं होगा। मृत्यु के सामने सब अनाथ, अशरण हैं। किसी का कोई जोर नहीं चलता। इस प्रकार सांसारिक पदार्थों और संबंधों को अशरणभूत मानना अशरण-अनुप्रेक्षा है।

3. संसार-अनुप्रेक्षा (Contemplation of the cycle of birth and death)

संसार अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत संसार के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। इस संसार में सब प्राणी समान नहीं हैं। सबकी क्षमता भी समान नहीं है। यह संसार परिवर्तनशील है। जन्म और मरण की परम्परा भी अनादि है। प्राणी जन्म लेता है और मरता है। इस जन्म-मरण की परम्परा पर विचार करना तथा अजन्मा और अमृत होने की भावना करना संसार-अनुप्रेक्षा है। इससे संसार के प्रति विमुखता और मोक्ष के प्रति संमुखता का भाव पैदा होता है।

4. एकत्व-अनुप्रेक्षा (Contemplation of Solitariness)

आत्मा के अकेलेपन का चिन्तन करना एकत्व अनुप्रेक्षा है। इसमें साधक की दृष्टि आत्मकेन्द्रित हो जाती है। यह संसार के सभी पदार्थों और संबंधों को संयोगजनित मानता है। उनसे विरक्त हो आत्मा को ही जानने का प्रयास करता है। आत्मिक गुणों में उसकी रुचि इतनी दृढ़ हो जाती है कि वह एक आत्मा का ही चिन्तन करता है। बाहर के वातावरण में रहते हुए भी भीतर से एक आत्मा का ही चिन्तन करना एकत्व-अनुप्रेक्षा है।

5. अन्यत्व-अनुप्रेक्षा (Contemplation of Distinctness of Soul from body)

आत्मा और शरीर की भिन्नता का अनुभव करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। आत्मा चेतन है, शरीर जड़ है। आत्मा नित्य है, शरीर अनित्य है। इस प्रकार शरीर से आत्मा के अन्यत्व का चिंतन करना अन्यत्व अनुप्रेक्षा है। जैसे म्यान में तलवार रहती है पर तलवार म्यान नहीं है और न म्यान तलवार है। इसी तरह शरीर में आत्मा रहती है, परन्तु न शरीर आत्मा है और न आत्मा शरीर है। शरीर और आत्मा के इस भेदविज्ञान का चिन्तन करना ही अन्यत्व-अनुप्रेक्षा है।

एकत्व अनुप्रेक्षा में 'मैं अकेला हूँ' इस प्रकार विधिरूप से चिन्तन किया जाता है और अन्यत्व अनुप्रेक्षा में 'ये शरीर आदि मेरे नहीं हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ' इस प्रकार निषेध रूप से चिन्तन किया जाता है।

6. अशौच-अनुप्रेक्षा (Contemplation of impurity of the body)

शरीर की अशुचिता-अपवित्रता का चिन्तन करना अशौच अनुप्रेक्षा है। शरीर की अशुचिता को देखने से व्यक्ति शरीर के बाह्य रंग-रूप को देखकर उसमें आसक्त नहीं होता। वह इस अशुचि शरीर के अन्दर झरते हुए विविध स्रोतों को देखता है। शरीर के अशुचि स्वरूप का चिन्तन करता है। इस प्रकार शरीर के प्रति होने वाले राग को दूर करने का उपाय अशौच-अनुप्रेक्षा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7. आश्रव-अनुप्रेक्षा (Contemplation of inflow of karma)

आश्रव के अनिष्ट परिणामों का चिन्तन करना आश्रव अनुप्रेक्षा है। कर्म-पुद्गलों का आकर्षण आश्रव के द्वारा होता है। जब तक आश्रव है तब तक संसार है। आश्रव वास्तव में आत्मा के छिद्र हैं। नाव में जिस प्रकार छिद्रों से पानी भरता है और पानी भरने से नाव को डूबने का खतरा रहता है, उसी प्रकार आश्रव रूपी छिद्रों से आत्मा में कर्मजल भरता है और वह आत्मा संसार-समुद्र में डूबा रहता है। इस प्रकार कर्म-पुद्गलों का आश्रवण कैसे होता है, इसकी अनुप्रेक्षा करना आश्रव-अनुप्रेक्षा है।

8. संवर-अनुप्रेक्षा (Contemplation of inhibiting karma)

आश्रव छिद्रों को बन्द करने का चिन्तन करना संवर अनुप्रेक्षा है। संवर के लिए साधक सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग की साधना करता है। संवर की साधना से कर्म-बंध को रोकता है और मुक्ति की ओर अग्रसर होता है।

9. निर्जरा-अनुप्रेक्षा (Contemplation of wearing off karma)

कर्म पुद्गलों के निर्जरण के हेतुओं का चिन्तन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है। निर्जरा आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया है। इससे आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है।

10. धर्म-अनुप्रेक्षा (Contemplation of righteousness)

आत्मशुद्धि के साधन को धर्म कहते हैं। अहिंसा, संयम, तप आदि साधनों का चिन्तन करना धर्म-अनुप्रेक्षा है।

11. लोक-अनुप्रेक्षा (Contemplation of the nature of the cosmos)

लोक के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोक अनुप्रेक्षा है। आकाश के जिस भाग में धर्म, अधर्म आदि पांचों अस्तिकाय पाये जाते हैं, वह भाग लोक कहलाता है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह लोक तीन प्रकार का है। लोक-अनुप्रेक्षा के द्वारा साधक अपनी आत्मा की अनादिकालीन लोकयात्रा का अन्त करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है।

12. बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा (Contemplation of rarity of enlightenment)

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की उपलब्धि को बोधि कहते हैं। इस बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। बोधि प्राप्ति के लिए साधक चिन्तन करता है, पुरुषार्थ करता है और बोधि को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन-मनन द्वारा साधक का वैराग्य भाव दृढ़ बनता है। संसार की अनित्यता और असारता का बोध होता है। आत्मा आध्यात्मिक उन्नति के क्रमिक सोपानों पर चढ़ती हुई अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त होती है।

1.13 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. ध्यान किसे कहते हैं?
2. अशुभ ध्यान के नाम लिखें?
3. सालम्बन ध्यान किसे कहते हैं?
4. अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं?
5. ध्याता कौन होता है?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. ध्यान को परिभाषित करते हुए धर्मध्यान और शुक्लध्यान का विवेचन करें?
2. सालम्बन और निरालम्बन ध्यान पर प्रकाश डालते हुए ध्यान की कसौटियों का उल्लेख करें?
3. अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? विस्तृत विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई 4.2 प्रेक्षाध्यान के अंग और उपसंपदा
(Constituents of Preksha Meditation and its Pre-requisites)

संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 प्रेक्षाध्यान
2.3 प्रेक्षाध्यान का अर्थ
2.4 प्रेक्षाध्यान का ध्येय
2.5 ध्येय-प्राप्ति की प्रक्रिया
2.6 प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा
  2.6.1 भावक्रिया
  2.6.2 प्रतिक्रिया-विरति
  2.6.3 मैत्री
  2.6.4 मित-आहार
  2.6.5 मित-भाषण
2.7 प्रेक्षाध्यान के अंग
  2.7.1 कायोत्सर्ग
  2.7.2 अन्तर्यात्रा
  2.7.3 श्वासप्रेक्षा
  2.7.4 शरीरप्रेक्षा
  2.7.5 चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा
  2.7.6 लेश्याध्यान
  2.7.7 अनुप्रेक्षा-भावना
2.8 प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग
2.9 प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग
2.10 प्रेक्षाध्यान की उपयोगिता
2.11 बोधप्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद, आप—

❖ प्रेक्षाध्यान के अर्थ को समझ सकेंगे।
❖ प्रेक्षाध्यान के ध्येय और ध्येय-प्राप्ति की प्रक्रिया को जान सकेंगे।
❖ प्रेक्षाध्यान से पूर्व उपसंपदा का अभ्यास आवश्यक है, इस तथ्य को समझ सकेंगे।
❖ प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग, विशिष्ट अंग एवं सहायक अंग से परिचित हो सकेंगे।
❖ शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से प्रेक्षाध्यान की उपयोगिता को समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

प्रेक्षाध्यान जैनयोग को आचार्य महाप्रज्ञ का एक मौलिक योगदान है। जैनयोग में ध्यान की एक समृद्ध परम्परा रही है किन्तु कालान्तर में वह अनेक कारणों से विलुप्त-सी हो गई। आचार्य तुलसी का निर्देश प्राप्त कर आचार्य महाप्रज्ञ ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उस विलुप्त ध्यान परम्परा का पुनरुद्धार किया जो कि आज प्रेक्षाध्यान के रूप में प्रसिद्ध है। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान का स्वरूप, प्रेक्षाध्यान का ध्येय, उपसंपदा, प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग, सहायक अंग, विशिष्ट अंग एवं उसकी उपयोगिता का विवेचन किया जा रहा है।

2.2 प्रेक्षाध्यान (Preksha Meditation)

भारत में अनेक धार्मिक परम्पराएँ हैं। उनकी भिन्न-भिन्न धारणाएँ और मान्यताएँ हैं पर एक बात सबके साथ जुड़ी हुई है और वह है—साधना-पद्धति। जैन साधना पद्धति का नाम—मोक्षमार्ग, बौद्ध साधना पद्धति का नाम—विशुद्धिमार्ग और सांख्य दर्शन की साधना पद्धति का नाम योगदर्शन है। ये नाम भिन्न-भिन्न हैं पर तात्पर्य में भिन्नता नही है। इन सबका उद्देश्य चित्त को निर्मल करना है। आत्मा को पवित्र बनाना है।

जैन धर्म मे ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसके प्रमाण वेदों एवं उपनिषदों में मिलते हैं। ऐतिहासिक तथा पुरातात्विक शोधों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। जैन आगमों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसमें ध्यान की प्रचुर सामग्री है। भगवान महावीर का समग्र जीवन ध्यान और तपस्या के विशिष्ट प्रयोगों की प्रयोगभूमि रहा है। भगवान महावीर के पश्चात्वर्ती युग में भी ध्यान पर गहरा चिन्तन हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य उमास्वाति, आचार्य भद्रबाहु, आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य यशोविजय, आचार्य तुलसी आदि आचार्यों ने ध्यान के स्वरूप का व्यवस्थित प्रतिपादन किया है। नये आलम्बन, नये स्वरूपों एवं साधनों का भी समावेश ध्यान परम्परा में किया है। किन्तु कालान्तर में ध्यान की परम्परा मूल धारा से हटते हुए अनेक अन्य ध्यान पद्धतियों से प्रभावित होती हुई वर्तमान काल तक आते-आते प्राय: लुप्त हो गई। आचार्य तुलसी के निर्देशानुसार आचार्य महाप्रज्ञ ने ध्यान के क्षेत्र में पुनरनुसंधान किया। वर्षों की सघन साधना के बाद विस्मृत ध्यानयोग की पद्धति और प्रक्रिया को आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत किया जो प्रेक्षाध्यान के नाम से जानी जाती है।

2.3 प्रेक्षा : अर्थ व्यंजना (What is Preksha)

'प्रेक्षा' शब्द ईक्ष धातु से बना है। इसका अर्थ है—देखना। प्र + ईक्षा = प्रेक्षा। प्र उपसर्ग लगाने पर इसका अर्थ होता है—गहराई में उतरकर देखना। प्रेक्षाध्यान पद्धति केवलदर्शन और केवलज्ञान की पद्धति है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—'**संपिक्खिए अप्पगमप्पएणं**' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। 'देखना' ध यान का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया है। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—भगवान महावीर ने साधना के जो सूत्र दिए हैं, उनमें 'जानो' और 'देखो' ही मुख्य है। चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो—यह बहुत गौण और प्रारम्भिक है। ये साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नही ले जाते। 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

2.5 प्रेक्षाध्यान का ध्येय (Aim of Preksha Dhyan)

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें, यह प्रेक्षाध्यान पद्धति का ध्येयसूत्र है। विचारों के सिलसिले को रोकने का प्रथम एवं अन्तिम साधन है—देखना। महावीर की साधना का यही मुख्य सूत्र है। विचार या पर्यालोचन साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नही ले जा सकते। ये प्रारम्भिक बिन्दु हो सकते हैं। दर्शन इससे आगे की भूमिका है। यहां देखने का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित, तटस्थ भाव से गहराई में उतरकर देखना। देखने की क्रिया में केवल चैतन्य जागृत रहता है।

प्रश्न होता है कि आत्मा एक ओर अखंड है, फिर किस आत्मा से किस आत्मा को देखें। आचार्य महाप्रज्ञ ने विविध ा दृष्टियों से इसका समाधान दिया है। उनके अनुसार निश्चय दृष्टि से द्रव्य आत्मा ही शुद्ध आत्मा है और वह एक है। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से भाव आत्माएँ अनेक हैं अत: यहां 'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें' का तात्पर्य है कि चित्त के द्वारा आत्मा के विभिन्न स्तरों को देखें। देखने के इस क्रम में—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पहला क्रम है—सबसे पहले अपनी चंचलता को देखें, अर्थात् योग आत्मा को देखें, प्रवृत्ति और कर्म को देखें।

दूसरा क्रम है—चंचलता पैदा करने वाली आत्मा को देखें अर्थात् कषाय आत्मा को देखें।

तीसरा क्रम है—चंचलता नष्ट करने वाली आत्मा को देखें अर्थात् वीर्य आत्मा को देखें।

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया में साधन आत्मा के द्वारा साध्य आत्मा तक पहुंचा जाता है और इसके लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान करना होता है। इस संदर्भ में पांच पड़ावों की चर्चा करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—

❖ श्वास को देखना आत्मा को देखने का पहला पड़ाव है।
❖ शरीर को देखना आत्मा को देखने का दूसरा पड़ाव है।
❖ विचारों को देखना आत्मा को देखने का तीसरा पड़ाव है।
❖ आभामण्डल को देखना आत्मा को देखने का चौथा पड़ाव है।
❖ प्राणशक्ति का साक्षात्कार आत्मा को देखने का पांचवां पड़ाव है।

आत्मा शरीर में है इसलिए स्थूल शरीर को देखे बिना आगे नहीं देखा जा सकता। श्वास स्थूल शरीर का ही एक अंग है अत: सर्वप्रथम श्वास को देखें, शरीर को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों को देखें। इन्हें देखते-देखते मन सूक्ष्म एवं पटु हो जाता है। इससे स्पन्दन स्पष्ट होने लगते हैं तब भीतर रहे दोष दिखने लग जाते हैं और वह क्रमश: इस चक्रव्यूह को तोड़ देता है।

2.6 ध्येय प्राप्ति की प्रक्रिया (Process to achieve the aim)

किसी भी ध्येय को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार की शक्तियों का उपयोग करना आवश्यक होता है—

1. कल्पना-शक्ति, 2. इच्छा-शक्ति, 3. एकाग्रता-शक्ति, 4. तन्मयता की शक्ति।

1. कल्पनाशक्ति—कल्पनाशक्ति अर्थात् पहले स्पष्ट मानसिक चित्र खींचें। ध्यान के विकास के लिए कल्पना करना बहुत जरूरी है। जैसा बनना है, उसकी कल्पना करें। आत्म-विकास करने वाले ध्यान से पूर्व अर्हत् की कल्पना करें। जब तक कल्पना नहीं होती तब तक वैसा नहीं बना जा सकता।

2. इच्छाशक्ति—इच्छाशक्ति अर्थात् भावों की प्रबलता। भावों को ऑटोसजेशन के द्वारा इच्छाशक्ति में बदला जा सकता है। इच्छाशक्ति के द्वारा विचारों में ऐसे प्रकंपन पैदा होते हैं कि हमारा परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

3. एकाग्रता की शक्ति—एकाग्रता अर्थात् मन की शक्ति को एक ही दिशा में बहने देना। मन विषयान्तरित न हो। वह ध्येय की आकृति पर ही केन्द्रित रहे।

4. तन्यमता की शक्ति—तन्मयता अर्थात् जहां ध्येय और ध्याता दो नही रहते। ध्याता स्वयं ध्येय रूप बन जाता है।

इस प्रकार अपने ध्येय-लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पहली आवश्यकता है—ध्येय की कल्पना करना। कल्पना करने के बाद उसे साकार करने के लिए दृढ़ इच्छाशक्ति का होना। इच्छाशक्ति के साथ-साथ ध्येय के प्रति गहरी एकाग्रता और तन्मयता होने पर ध्येय की प्राप्ति संभव हो पाती है।

2.7 प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा (Pre requisites of Prekha Meditation)

प्रेक्षाध्यान की साधना के लिए समुद्यत व्यक्ति सबसे पहले ध्यान साधना का संकल्प स्वीकार करता है। तत्पश्चात् साधना का मार्ग और उद्देश्य का निर्धारण करता है। साधना के लिए मानसिक तैयारी, मार्ग का चयन, लक्ष्य का निर्धारण और साधना की स्वीकृति—ये चार सूत्र प्रेक्षाध्यान साधना के लिए प्रकाश स्तम्भ हैं। ध्यान की साधना काल-प्रतिबद्ध है। व्यक्ति एक घंटा, दो घंटा, चार-पांच घंटा ध्यान कर सकता हैं, चौबीस घंटे नहीं। आचार्य महाप्रज्ञ ने साधना की एक ऐसी प्रक्रिया भी हमारे सामने प्रस्तुत की, जिसका अभ्यास और प्रयोग चौबीस घंटे किया जा सकता है, वह है—उपसंपदा की साधना। उपसंपदा का अभ्यास ध्यान-साधना की पृष्ठभूमि है। उपसंपदा के पांच सूत्र बतलाये गए हैं—1. भावक्रिया, 2. प्रतिक्रियाविरति, 3. मैत्री, 4. मित-आहार, 5. मित-भाषण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.7.1 भावक्रिया (Mindfulness)

ध्यान की साधना काल सापेक्ष है, वह निरन्तर नहीं हो सकती। आचार्य महाप्रज्ञ ने साधना के कुछ सूत्र ऐसे दिये हैं, जिनकी साधना निरन्तर हो सकती है, हर क्रिया के साथ हो सकती है, वे पांच उपसंपदाएं हैं। उनमें प्रथम है—भावक्रिया। जिस क्रियाकाल में जो भाव है, वह भाव पूर्ण क्रियाकाल में बना रहे। इसी का नाम भावक्रिया है। भावक्रिया के तीन अर्थ उपलब्ध होते हैं—1. वर्तमान में रहना, 2. जानते हुए करना, 3. सतत अप्रमत्त रहना।

1. वर्तमान में रहना—भावक्रिया का पहला अर्थ है—वर्तमान में रहना। वर्तमान में रहने का अर्थ है क्रिया के साथ भावधारा और मन का संयोजन बनाए रखना। यदि क्रियाकाल में भावक्रिया न रहे और मन अन्यत्र चक्कर लगाता रहे तो उस स्थिति में क्रिया, भाव और मन का वियोजन होने से तनाव पैदा होता है। कार्य में सफलता भी नहीं मिलती है। अतीत की अनावश्यक स्मृतियों और भविष्य की अनावश्यक कल्पनाओं से हटकर वर्तमान में जीने का अभ्यास करना चाहिए।

2. जानते हुए करना—भावक्रिया का दूसरा अर्थ है—जो कार्य करें, जानते हुए करें अर्थात क्रियाकाल में मन, की जाने वाली क्रिया में लगा रहे। बहुत बार हम कार्य करते रहते हैं, लेकिन मन अन्यत्र चक्कर काटता रहता है, अतः पढ़ना, लिखना, खाना, घूमना जो भी क्रिया करें, जानते हुए करें।

3. सतत अप्रमत्त रहना—भावक्रिया का तीसरा अर्थ है—लक्ष्य के प्रति सतत अप्रमत्त और जागरूक रहना। जिस क्रिया का प्रारम्भ किया है, आदि से अन्त तक उस कार्य की स्मृति बनी रहना। बहुत बार ध्यान करने बैठते हैं पर कुछ ही क्षणों में विचारों की दुनियां में भटक जाते हैं, ध्यान गौण हो जाता है। पढ़ने बैठते हैं, मन कल्पनाओं की दुनियां में विचरण करने लगता है, पढ़ना गौण हो जाता है। अतः जो भी कार्य करें, जागरूकता से उसी कार्य में लगे रहें। भावक्रिया ध्यान का साधन भी है और स्वयं ध्यान भी है। ध्यान का प्रयोग कालबद्ध है। कोई भी व्यक्ति चौबीस घंटे ध्यान नहीं कर सकता, पर भावक्रिया का प्रयोग काल से प्रतिबद्ध नहीं है। वह चौबीस घंटे भी किया जा सकता है।

आज शरीर विज्ञान में भी यह माना जाता है कि हमारे नाड़ी संस्थान में दो प्रकार के तंतु होते हैं—ज्ञानतंतु और कर्मतंतु। ज्ञानतंतु नियंत्रण करते हैं और कर्मतंतु क्रिया का संपादन करते हैं। इन दोनों में संतुलन होता है तो हमारी क्रिया भावक्रिया होती है। वर्तमान में अधिकाश व्यक्ति केवल क्रिया नहीं करते उसके साथ अनेक धारणाएँ काम करती हैं, जिसके कारण हम उसे पूर्णता से नहीं कर पाते। इसलिए सफलता की साधना का बहुत बड़ा सूत्र है—भावक्रिया। केवल करना, केवल देखना, केवल चलना, दूसरा कोई विचार-विकल्प नहीं। भावक्रिया करने पर एकाग्रता रहती है, शक्ति का खर्च कम होता है, तनाव कम पैदा होता है।

2.7.2 प्रतिक्रिया-विरति (Freedom from reaction)

उपसंपदा का दूसरा सूत्र है—क्रिया करना, प्रतिक्रिया नहीं करना। आज व्यक्ति क्रिया कम करता है, प्रतिक्रिया ज्यादा करता है। स्वतंत्र चेतना से देखना या सुनना ही स्वतंत्र क्रिया है किन्तु हमारे भीतर स्थित संस्कार प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—क्रिया, प्रतिक्रिया और विक्रिया—ये तीन शब्द प्रवृत्ति से जुड़े हुए हैं। जहां-जहां चित्तशुद्धि से शून्य क्रिया होती है, वहां-वहां प्रतिक्रिया होती है और जहां-जहां प्रतिक्रिया होती है, वहां-वहां विक्रिया भी निश्चित होती है। जहां कषाय की प्रबलता होती है, वहां प्रतिक्रिया की एक शृंखला बन जाती है और जहां कषाय उपशान्त होता है, वहां प्रतिक्रिया होती है, किन्तु उसकी शृंखला नहीं बन पाती। वह प्रतिक्रिया फिर अप्रतिक्रिया में बदल जाती है।

प्रतिक्रिया कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों स्तरों पर होती है। वह अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार की होती है। मनोविज्ञान ने प्रतिक्रिया को आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व का समायोजन माना है। उद्दीपनों के कारण भीतर में कोई प्रज्वलन होता है और व्यक्ति बाहर में प्रतिक्रिया कर लेता है।

प्रतिक्रिया का आंतरिक कारण कषाय की प्रबलता है। बाह्य कारण के रूप में पदार्थ, परिस्थिति आदि प्रतिक्रिया के उद्दीपन बनते हैं। कषाय और उद्दीपन—दोनों का योग होने पर प्रतिक्रिया अनन्त बन जाती है, अतः निष्पत्ति पर विचार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करना चाहिए। इसी तथ्य को लक्ष्य कर उपाध्याय विनयविजयजी ने लिखा—किसी व्यक्ति के द्वारा अहित किए जाने पर हुई प्रतिक्रिया को लंबाओ मत। यह सोचो थोड़े से जीवन के लिए दूसरों के प्रति शत्रु बुद्धि रखकर क्यों खिन्न बनूं?

2.7.3 मैत्री (Friendliness)

उपसंपदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—मित्र और शत्रु—ये दोनों व्यवहार की भूमिका पर चलने वाले शब्द हैं। प्रिय व्यक्ति मित्र और अप्रिय व्यक्ति शत्रु बन जाता है। अध्यात्म की भाषा में मित्र का अर्थ है—हितचिन्तक और मैत्री का अर्थ है—हितचिन्तन। दूसरे के अहित का चिन्तन करने वाला ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिए ध्यान साधना के साथ-साथ मैत्री का अभ्यास आवश्यक है।

मैत्री का अर्थ है—सबमें आत्मौपम्य बुद्धि का विकास, आत्मानुभूति का विकास। जैसी आत्मा मेरे में है, वैसी ही आत्मा दूसरे में है। इस प्रकार की आत्मतुला का अनुभव ही यथार्थरूप में मैत्री है।

मैत्री का आधार

प्रतिक्रिया-विरति और मैत्री में गहरा संबंध है। प्रतिक्रिया की विरति होगी तो मैत्री भाव बढ़ता चला जाएगा और प्रतिक्रिया की अविरति होगी तो प्रतिक्रिया बढ़ती चली जाएगी, शत्रुता का भाव समाप्त नहीं होगा। शत्रुता को समाप्त करने के लिए आवश्यक है—बंधुता की अनुभूति। शांत सुधारस में इसी बात पर बल दिया गया है—

सर्वे ते प्रियबान्धवा, नहि रिपुरिह कोऽपि।

मा कुरु कलिकलुषं मनो, निजसुकृतविलोपि।।

अर्थात् तुम मित्रता का चिंतन करो। इस जगत् में सभी प्राणी तुम्हारे प्रिय स्वजन हैं। तुम्हारा कोई शत्रु नहीं है। अत: अपने मन को कलह से कलुषित मत बनाओ।

यह बंधुत्व का चिंतन कषाय को उपशान्त बनाने में हेतु बनता है। जब व्यक्ति उपशान्त कषाय वाला होता है तब उसकी प्रतिक्रिया से अप्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और उसका परिणाम होता है—मैत्री।

मैत्री की प्रक्रिया (Process of friendliness)

शत्रुता का भाव व्यक्ति में तनाव पैदा करता है, उससे निषेधात्मक भाव प्रबल हो जाता है। चेतना की विकृति का यह बहुत बड़ा कारण है। अभ्यास के द्वारा इस भाव का विलय किया जा सकता है। अभ्यास की प्रक्रिया इस प्रकार है—

1. मैत्री का विकास हो रहा है—इस विचार पर एकाग्रता का अभ्यास करें।
2. संकल्प का प्रयोग करें—मैं मैत्री का विकास करूंगा।
3. मैत्री का मानसिक चित्र बनाएं।
4. पुन: संकल्प करें—शत्रुता का भाव समाप्त हो रहा है। मैत्री का भाव पुष्ट हो रहा है।

2.7.4 मिताहार (Moderation in diet)

उपसंपदा का चौथा सूत्र है—मिताहार। साधना में परिमित भोजन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतिमात्रा में भोजन करने वाला साधना के क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता क्योंकि भोजन का प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं मन, भाव और आत्मा पर भी पड़ता है अत: आहार का संबंध केवल शरीर को पोषण और जीभ को स्वाद देने से नहीं अपितु आत्मशक्तियों को जागृत करने से है। इसलिए कौन-सा भोजन क्या परिणाम लाएगा, यह विवेक होना आवश्यक है।

हमारा भोजन कैसा होना चाहिए, इस संदर्भ में हमारा ध्यान पांच बिन्दुओं की ओर आकर्षित होना चाहिए। वे हैं—

1. शारीरिक स्वास्थ्य, 2. मानसिक स्वास्थ्य, 3. अहिंसा, 4. ब्रह्मचर्य, 5. चित्तवृत्ति का परिमार्जन।

जिस भोजन से इन पांचों का विकास हो, वही करणीय है। साधना का मूल प्रयोजन है—रूपान्तरण। रूपान्तरण के लिए आहार-शुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। हित-मित और सात्विक आहार के अभ्यास से रूपान्तरण घटित होने लगता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास बढ़ता है, शरीर की विद्युत बदलती है, रसायन बदलते हैं, चैतन्य केन्द्रों की सक्रियता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बढ़ती है, उस दिन नई दुनियां का अनुभव होता है और तब आदमी इस स्वर में कहता है—जो सम्पदा आज तक नहीं मिली, वह आज हस्तगत हो गई, जो जागृति आज तक नही आई, वह आज आ गई।

2.7.5 मितभाषण (Moderation in speech or silence)

उपसंपदा का पांचवा सूत्र है—मितभाषण या मौन। भाषा हमारे व्यवहार का माध्यम बनती है इसलिए उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु कम बोलना साधना है। साधना की दृष्टि से इसके महत्त्व को उजागर करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—भाषा चंचलता बढ़ाने वाली है। जो अचंचल होने की साधना करना चाहते हैं, उनके लिए यथावकाश, यथोचित वाणी का संयम आवश्यक है। मित भाषण उसी का प्रयोग है। भगवान महावीर ने भी मौन (वचन गुप्ति) के महत्त्व को बताते हुए लिखा—वचनगुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को प्राप्त करता है। सामुदायिक जीवन में जीवन भर मौन कर पाना संभव नहीं है किन्तु भाषा का विवेक करना आवश्यक है। भाषा के संदर्भ में दसवैकालिक में कहा गया—**मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए** अर्थात् परिमित और निर्दोष वाणी को सोच-विचार कर बोलें। भाषा विवेक को जागृत करने के लिए कहा गया—बिना पूछे न बोलें, दो व्यक्ति बात कर रहे हो तो उनके बीच में न बोलें, चुगली न खाएँ और मायामृषा रूप भाषा का वर्जन करें।

इसी तथ्य को उत्तराध्ययन में प्रकारान्तर से कहा गया—**नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।** बिना पूछे न बोलें, पूछने पर झूठ न बोलें। कैसी भाषा बोलें, इस संदर्भ में कहा गया—कुलीन भाषा बोलें, मीठी भाषा बोलें, कम से कम बोलें, अनावश्यक न बोलें, हितकारी भाषा बोलें, संशयरहित भाषा बोलें, पहले सोचें, फिर बोलें।

इस प्रकार इन पांच उपसंपदाओं का प्रयोग करने वाला व्यक्ति ध्यान-साधना में गति कर सकता है और इनके अभ्यास से जीवन के हर क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है।

2.8 प्रेक्षाध्यान के अंग (Constituents of Preksha Dhyan)

प्रेक्षाध्यान का स्वरूप है—सतत आत्मा के प्रति जागरूक रहना, अप्रमत्त रहना। भगवान महावीर की समग्र साधना अप्रमाद की साधना थी। अप्रमाद की साधना के सूत्र आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं किन्तु उनकी विधियां नहीं मिलती। आचार्य महाप्रज्ञ ने उन आलंबन सूत्रों और उनकी विधियों को प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप दिया और प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत आठ मुख्य, चार सहायक एवं तीन विशिष्ट अंगों की चर्चा की।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग हैं—1. कायोत्सर्ग, 2. अन्तर्यात्रा, 3. श्वासप्रेक्षा, 4. शरीरप्रेक्षा, 5. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा, 6. लेश्याध्यान, 7. अनुप्रेक्षा, 8. भावना।

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग चार हैं— 1. आसन, 2. प्राणायाम, 3. मुद्रा, 4. ध्वनि (जप)।

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग तीन हैं—1. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, 2. विचार प्रेक्षा और 3. अनिमेष प्रेक्षा।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग (Prime Constituents of Preksha Meditation)

प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग आठ हैं—

2.8.1 कायोत्सर्ग (Total Relaxation)

प्रेक्षाध्यान का प्रथम अंग है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग दो शब्दों से बना है—काय + उत्सर्ग। इसका शाब्दिक अर्थ है—चैतन्य के जागरण के साथ शरीर का उत्सर्ग। उसका प्रायोगिक अर्थ है—शिथिलीकरण, श्वास को शांत करना, शरीर की चेष्टाओं को शान्त करना, मन को खाली करना। शरीर की सभी स्थूल प्रवृत्तियों को संकल्पपूर्वक छोड़ देना।

ध्यान में प्रवेश के लिए पहली शर्त है—शरीर की स्थिरता। कायोत्सर्ग से शरीर स्थिर होता है। इसलिए प्रत्येक ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग का अभ्यास किया जाता है। इसमें पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक प्रत्येक अवयव पर चित्त को एकाग्र कर स्वतः सूचना (Autosuggestion) द्वारा पूरे शरीर को शिथिल किया जाता है। शिथिलीकरण के बाद आत्मा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और शरीर की भिन्नता का अनुभव किया जाता है। शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग का अभ्यास बहुत जरूरी है। दो घंटे तक सोने से शरीर एवं मांसपेशियों को जो आराम नहीं मिलता उतना विश्राम आधे घंटे विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है, बल्कि उससे अधिक विश्राम मिल जाता है।

कायोत्सर्ग के प्रकार (Types of Relaxation)

कायोत्सर्ग में काया का शिथिलीकरण किया जाता है परन्तु बोलना, सोचना आदि क्रियाएं भी शरीर से जुड़ी हुई हैं। इस आधार पर शारीरिक, वाचिक, मानसिक और भावात्मक—चार प्रकार के कायोत्सर्ग की व्यवस्था की गई है—

1. शारीरिक कायोत्सर्ग—शरीर का शिथिलीकरण। इसमें पूरे शरीर को शिथिल किया जाता है।
2. वाचिक कायोत्सर्ग—स्वरयंत्र का शिथिलीकरण, कण्ठ का कायोत्सर्ग करना।
3. मानसिक कायोत्सर्ग—विचार-प्रेक्षा। विचारों को देखना।
4. भावात्मक कायोत्सर्ग—ममत्व विसर्जन 'मैं शरीर नहीं हूँ' इस भेद-विज्ञान का अभ्यास करना।

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया (Process of Relaxation)

कायोत्सर्ग के लिए दीर्घकालीन अभ्यास जरूरी है। अभ्यास की कालावधि के आधार पर कायोत्सर्ग की पांच भूमिकाएँ बनती हैं—

1. पहली भूमिका में पूर्ण एकाग्रता के साथ शरीर के सभी अवयवों को शिथिल होने का सुझाव दिया जाता है।
2. दूसरी भूमिका में प्राणशक्ति के प्रकम्पनों का अनुभव और प्राणशक्ति के प्रवाह का अनुभव किया जाता है।
3. तीसरी भूमिका में शरीर और प्राणप्रवाह के भेद का अनुभव किया जाता है। तैजस शरीर या प्राणविद्युत का अनुभव किया जाता है।
4. चौथी भूमिका में कर्मशरीर के प्रकम्पनों का अनुभव किया जाता है।
5. पांचवीं भूमिका में शुद्ध चैतन्य का अनुभव किया जाता है।

2.8.2 अन्तर्यात्रा (Internal Trip)

प्रेक्षाध्यान का दूसरा अंग है—अन्तर्यात्रा। यह अन्तर्मुख होने का महत्त्वपूर्ण उपाय है। ध्यान की साधना में नाड़ीतंत्र की प्राणशक्ति को विकसित करना आवश्यक होता है। हमारे नाड़ीतंत्र के तीन भाग हैं—अनुकंपी, परानुकंपी और केन्द्रीय नाड़ी संस्थान। केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का मुख्य स्थान है—सुषुम्ना। सुषुम्ना में चेतना के प्रवेश का नाम ही अन्तर्यात्रा है। सुषुम्ना के नीचे का छोर शक्तिकेन्द्र ऊर्जा या प्राणशक्ति का मुख्य केन्द्र है। अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्तिकेन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञानकेन्द्र तक ले जाना होता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है तथा इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ीतंत्र की प्राणशक्ति विकसित होती है।

अन्तर्यात्रा कैसे? (How to practice Internal Trip)

अन्तर्यात्रा में चित्त को बाह्य विषयों से प्रतिसंलीन कर (हटाकर) शक्तिकेन्द्र पर लाना होता है। उसके बाद उसे सुषुम्ना मार्ग से ज्ञानकेन्द्र तक ले जाना होता है। चित्त के द्वारा प्राणधारा का ऊर्ध्वारोहण इस यात्रा का उद्देश्य है। ज्ञानकेन्द्र से फिर चित्त को शक्तिकेन्द्र तक लाया जाता है और पुनः प्राणधारा के ऊर्ध्वारोहण हेतु ज्ञानकेन्द्र तक पहुंचाया जाता है। शक्तिकेन्द्र शक्ति का अक्षय केन्द्र है। मस्तिष्क को जिस प्राण ऊर्जा की जरूरत रहती है, वह अन्तर्यात्रा के इस प्रयोग से ऊर्ध्वारोहित होकर वहां पहुंच जाती है।

इस क्रम को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जिस प्रकार व्यक्ति कुंए से पानी निकालने के लिए बाल्टी को माध्यम बनाता है। बाल्टी नीचे जाती है और अपने भीतर पानी भरकर ऊपर आ जाती है। वहाँ खाली होकर पुनः कुंए में जाकर पानी ले आती है। बाल्टी के यातायात से व्यक्ति को पर्याप्त पानी उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार चित्त प्राण ऊर्जा को मस्तिष्क तक पहुंचाने में बाल्टी का काम करता है। इससे शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.8.3 श्वासप्रेक्षा (Perception of Breathing)

प्रेक्षाध्यान का तीसरा अंग है—श्वासप्रेक्षा। हमारी सारी शक्तियों का प्रतिनिधि श्वास है। 'श्वास ही जीवन है'—यह तथ्य व्यक्त करता है कि जीवन श्वास के आधार पर संचालित है अत: प्रेक्षाध्यान प्रक्रिया में इसको आधारभूत रूप में ग्रहण किया गया है। श्वास का मूल्यांकन करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—शरीर, वाणी, मन और श्वास—ये चारों ही चंचल हैं। जब तक इनकी चंचलता है, समाधि तक नहीं पहुंचा जा सकता। समाधि की साधना करने वाले साधक को सबसे पहले श्वास का मूल्यांकन करना चाहिए। श्वास को लंबा करने से वह शांत एवं नियंत्रित होता है। श्वास के नियंत्रित होने से मन, वचन, शरीर स्वत: स्थिर हो जाते हैं। उनकी चंचलता स्वत: समाप्त हो जाती है।

श्वास के तीन रूप (Three types of breathing)

श्वास की तीन क्रियाएँ हैं—पूरक, रेचक, संयम (कुंभक)। इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—जो विचार श्वास के साथ भीतर जाता है, वह तीन मिनिट में शरीर के प्रत्येक अणु तक अपना प्रभाव छोड़ जाता है। अत: पूरक के समय सोचो—प्राणशक्ति भीतर जा रही है। श्वास संयम के समय सोचो—प्राणशक्ति पूरे शरीर में व्याप्त हो गई है। रेचक के समय मन को खाली रखो। इसका प्रयोग किसी भी गुण के विकास के लिए किया जा सकता है।

श्वासप्रेक्षा के तीन प्रकार (Three Types of Perception of Breathing)

श्वासप्रेक्षा का प्रयोग मुख्य रूप से तीन प्रकार से किया जाता है— 1. दीर्घ श्वासप्रेक्षा, 2. लयबद्ध दीर्घश्वास प्रेखा, 3. समवृत्ति श्वासप्रेक्षा।

1. दीर्घश्वास प्रेक्षा—श्वास की गति को मन्द करें। धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें, धीरे-धीरे लम्बा श्वास छोड़ें। श्वास के कम्पन नाभि तक पहुंचे। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियां फूलती हैं, छोड़ते समय सिकुड़ती हैं। चित्त को नाभि पर केन्द्रित करें और पेट की मांसपेशियों के फूलने और सिकुड़ने का अनुभव करें। फिर चित्त को नाभि से हटाकर दोनों नथुनों के भीतर संधिस्थल पर केन्द्रित करें। आते-जाते प्रत्येक श्वास का अनुभव करें।

2. लयबद्ध दीर्घश्वासप्रेक्षा—श्वास को लयबद्ध करें। पहली बार श्वास को लेने और छोड़ने में जितना समय लगे, दूसरी बार, तीसरी बार भी उतना ही समय लगे। प्रत्येक श्वास को जानते हुए लें। जानते हुए छोड़ें।

3. समवृत्ति श्वासप्रेक्षा—श्वास की गति को मंद करें। धीरे-धीरे लम्बा श्वास लें। धीरे-धीरे लंबा श्वास छोड़ें। बाएँ नथुने से श्वास लें, दाएँ से निकालें, फिर दाएँ से लें और बाएँ से निकालें। संकल्प शक्ति के द्वारा ऐसा करें या फिर अंगुली और अंगूठे के सहारे करें। श्वास के साथ चित्त को जोड़ें। चित्त और श्वास दोनों साथ-साथ चलें केवल श्वास का ही अनुभव करें।

2.8.4 शरीरप्रेक्षा (Perception of Body)

प्रेक्षाध्यान का चौथा अंग है—शरीरप्रेक्षा। साधना का मुख्य प्रयोजन है—आत्म-साक्षात्कार। आत्मा तक सीधा नही पहुंचा जा सकता है। वहां तक पहुंचने के लिए सर्वप्रथम शरीर में प्रवाहित प्राण के प्रवाह को तथा सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर के रहस्यों को समझना जरूरी है। शरीर आध्यात्मिक विकास का माध्यम है। शरीरप्रेक्षा में प्रियता और अप्रियता से हटकर शरीर के विविध भागों की प्रेक्षा की जाती है और शरीर में होने वाले परिवर्तनों का अनुभव किया जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं जो शरीर को नहीं जानता वह अध्यात्म की गहराइयों में नहीं जा सकता, अध्यात्म की ऊँचाई तक पहुंचने के लिए शरीर का सहयोग आवश्यक है। यदि कोई यह कल्पना करे कि शरीर और श्वास को समझे बिना, प्राणधारा को जाने बिना तथा सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म शरीर के रहस्यों को ज्ञात किये बिना आत्मा तक पहुंच जायेंगे तो यह अतिकल्पना होगी।

आत्मदर्शन का पहला उपाय है—शरीर को देखना। शरीरप्रेक्षा बाहर से भीतर की ओर जाने की प्रक्रिया है। इसमें पहले शरीर के स्थूल प्रकंपनों का साक्षात्कार करें, फिर शरीर के भीतर होने वाले सूक्ष्म परिणामो का, रसायनों का साक्षात्कार करें। फिर शरीर को संचालित करने वाली विद्युत का, प्राणधारा का साक्षात्कार करें। इन सबका साक्षात्कार होने पर सूक्ष्म

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शरीर और अतिसूक्ष्म शरीर (कर्मशरीर) के प्रकंपनों का साक्षात्कार होने लगता है और अन्ततोगत्वा आत्मा का साक्षात्कार होता है।

शरीरप्रेक्षा का क्रम (Order of perception of body)

स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने के लिए शरीरप्रेक्षा के क्रमिक चरणों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—

1. शरीर-प्रेक्षा में सबसे पहले हमें त्वचा के बाह्य संवेदनों की अनुभूति होगी, जैसे—अपने वस्त्रों से शरीर का स्पर्श, बाह्य उष्मा, पसीना, खुजलाहट आदि-आदि।

2. दूसरे क्रम में मांसपेशीय हलन-चलन से उत्पन्न होंने वाले संवेदनों का दर्शन होगा।

3. तीसरे क्रम में अपने आंतरिक अवयवों द्वारा उत्पन्न संवेदनों का बोध होगा।

4. चौथे क्रम में अपने नाड़ीतंत्र (तंत्रिका तंत्र) के भीतर प्रवहमान विद्युत आवेगों के द्वारा उत्पन्न सूक्ष्म प्रकम्पनों का बोध होगा।

इस प्रकार शरीरप्रेक्षा में साधक को अपने चित्त को शरीर के एक-एक अंग पर पैर से सिर तक या सिर से पैर तक केन्द्रित करना तथा प्रत्येक भाग में होने वाले संवेदनों को द्रष्टाभाव से देखना है।

2.8.5 चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा (Perception of Psychic Centres)

प्रेक्षाध्यान का पांचवां अंग है—चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा। जैनदर्शन के अनुसार चैतन्य पूरे शरीर में व्याप्त है। पूरा नाड़ी-तंत्र चैतन्य से ओत-प्रोत है, फिर भी शरीर के कुछ भाग ऐसे हैं, जहां चैतन्य विरल रूप में व्याप्त है और कुछ अवयव ऐसे हैं, जहाँ चैतन्य सघन रूप में व्याप्त है। जहाँ चैतन्य सघन होता है, वह स्थान आयुर्वेद की भाषा में मर्मस्थान और हठयोग की भाषा में चक्र कहलाता है। आज के शरीर-शास्त्री उन्हें ग्लैण्ड्स कहते हैं। जापान में प्रचलित बौद्ध पद्धति 'जूडो' में उन्हें क्यूसोस (Kyushos) कहते हैं। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में उसे चैतन्य केन्द्र कहा जाता है। ये चैतन्य केन्द्र तेरह हैं—

क्र.	चैतन्य केन्द्र	किस ग्रंथि से संबंध	योग चक्र	स्थान
1.	शक्तिकेन्द्र	गोनाड्स	मूलाधार चक्र	पृष्ठरज्जू के नीचे छोर पर
2.	स्वास्थ्यकेन्द्र	गोनाड्स	स्वाधिष्ठान चक्र	पेडु (नाभि से चार अंगुल नीचे)
3.	तैजसकेन्द्र	एड्रीनल, पेन्क्रियाज	मणिपुर चक्र	नाभि पर
4.	आनन्दकेन्द्र	थायमस	अनाहत चक्र	हृदय के पास बिल्कुल बीच में
5.	विशुद्धिकेन्द्र	थाइराइड, पेराथाइराइड	विशुद्धि चक्र	कंठ के मध्य भाग में
6.	ब्रह्मकेन्द्र	रसनेन्द्रिय	—	जिह्वाग्र
7.	प्राणकेन्द्र	घ्राणेन्द्रिय	—	नासाग्र
8.	चाक्षुषकेन्द्र	चक्षुरिन्द्रिय	—	आँखों के भीतर
9.	अप्रमादकेन्द्र	श्रोत्रेन्द्रिय	—	कानों के भीतर
10.	दर्शनकेन्द्र	पिच्यूटरी	आज्ञा चक्र	भृकुटियों के मध्य में
11.	ज्योतिकेन्द्र	पाइनियल	सहस्रार चक्र	ललाट के मध्य में
12.	शांतिकेन्द्र	हाइपोथेलेमस	—	मस्तिष्क का अग्रभाग
13.	ज्ञानकेन्द्र	वृहद् मस्तिष्क	—	सिर के ऊपर का भाग (चोटी का स्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षा क्यों? (Why Perception of Psychic Centres)

नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र—ये शरीर के दो महत्त्वपूर्ण तंत्र हैं। ये दोनो तंत्र परस्पर जुड़े हुए हैं किन्तु हमारे भावों और आचरण का संबंध ग्रंथितंत्र से अधिक है। भावों के परिष्कार और आचरण के विकास के लिए चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा अति आवश्यक है।

ध्यान रूपान्तरण की प्रक्रिया है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क मे आर.एन.ए. नामक रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतों पर छाया रहता है। इसे घटा-बढ़ाकर आदतों का परिष्कार किया जा सकता है। आज विज्ञान ने यह खोज कर ली है कि हमारे शरीर में किस केन्द्र पर वृत्ति (तरंग) पैदा होती है तथा किस पथ से वृत्ति की तरंगें गुजरती हैं तथा अमुक वृत्ति के केन्द्र पर प्रहार कर उसे निष्क्रिय कर देने से वह वृत्ति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार आज के वैज्ञानिक तरंगों की अभिव्यक्ति समाप्त कर सकते हैं, किन्तु तरंगों की उत्पत्ति को समाप्त नहीं कर सकते।

चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा के द्वारा व्यक्ति तरंगातीत चेतना की भूमिका पर पहुंच जाता है। उस अवस्था में क्रोध की तरंग जहां उठती है, उस पर ही प्रहार नही होता, किन्तु जो उस तरंग को उठाने के लिए उत्तरदायी है, उस पर प्रहार होता है। अत: तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने का एकमात्र उपाय है—चैतन्यकेन्द्रों की प्रेक्षा।

दूसरी बात हमारे शरीर में जितनी भी ग्रंथियाँ (ग्लैण्ड्स) हैं, वे सब अर्ध-चेतन मन (सबकोन्सियस माइण्ड) हैं। ये मस्तिष्क को भी प्रभावित करती हैं, इसलिए ये मस्तिष्क से भी अधिक मूल्यवान हैं। सही साधनों के द्वारा इसे जागृत करने पर सारी बाधाओं से मुक्ति मिलती है। विज्ञान अभी यह बताने में समर्थ नहीं है कि इन ग्रंथियों की जागृति के सही साधन क्या हैं? पर अध्यात्म के पास इसका समाधान है और वह यह है कि चैतन्य केन्द्रों (ग्रंथियों) पर ध्यान करने से वे संतुलित होती हैं और उनके संतुलित होने से भय, आवेग आदि सारी बाधाएँ समाप्त होती हैं और बाह्य परिस्थितियाँ हमें प्रभावित नही करती।

चैतन्यकेन्द्र जागृत करने की प्रक्रिया (Process of Perception of Psychic Centers)

चैतन्यकेन्द्रों को जागृत करने की सरल पद्धति यह है—जिस केन्द्र को जागृत करना चाहें, उस केन्द्र पर मन को एकाग्र करें। मन जितना अधिक एकाग्र होगा, वह केन्द्र जागृत हो जाएगा। हमें किस केन्द्र को जागृत करना है, यह हमारे लक्ष्य पर निर्भर है।

2.8.6 लेश्याध्यान (Perception of Psychic Colours)

प्रेक्षाध्यान का छठा अंग है—लेश्याध्यान। लेश्या हमारी चेतना की एक रश्मि है। लेश्या का अर्थ है—रंग, भावध ारा, आभामण्डल। रंग और भावधारा में घनिष्ठ संबंध है। जैसा रंग वैसा भाव, जैसा भाव वैसा रंग।

लेश्याध्यान क्यों? (Why perception of psychic colours)

ध्यान और लेश्या में गहरा संबंध है। जब आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान होता है तब अशुभ लेश्या जागती है, आभामण्डल विकृत होता है। जब धर्मध्यान और शुक्लध्यान होता है तब लेश्या शुद्ध होती है। व्यक्तित्व परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—लेश्या का विशुद्धिकरण। लेश्याध्यान के द्वारा भीतरी रसायनों में, भाव संस्कारों में और अप्रशस्त लेश्याओं में परिवर्तन होता है। दुष्प्रवृत्तियों के द्वारा संचित होने वाले कर्म कषाय-वलय को प्रबल करते रहते हैं और जब संचित कर्म का विपाक होता है, तब वे तरंगों और रसायनों के रूप में कषाय-वलय से बाहर आते हैं और ग्रंथि-तंत्र के माध्यम से वृत्तियों और वासनाओं को पैदा करते हैं किन्तु लेश्याध्यान के द्वारा ऐसी तरंगों और ऐसे रसायनों का निर्माण होता है कि वे तीव्र विपाक वाली तरंगें नष्ट हो जाती हैं, रसायन मंद हो जाते हैं, उनका सामर्थ्य क्षीण हो जाता है लेश्याध्यान से ग्रंथियाँ और लेश्याएँ शुद्ध होने लगती हैं। लेश्याओं के शुद्ध होने पर अध्यवसाय शुद्ध होने लगते हैं और अध्यवसाय के शुद्ध होने पर कषाय के तीव्र विपाक नहीं आ सकते। वे मंद हो जाते हैं और मंद विपाक तीव्र वृत्ति, वासना या बुरी आदत का निर्माण नहीं कर सकते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस दृष्टि से लेश्याध्यान का प्रयोग आभामण्डल को शुद्ध और निर्मल बनाने तथा आत्मविकास के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है।

लेश्याध्यान की प्रक्रिया (Process of Perception of Psychic Colours)

लेश्या ध्यान रंगों का ध्यान है। इसमें आनन्दकेन्द्र पर हरे रंग का ध्यान किया जाता है, इससे भावधारा निर्मल होती है। विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग का ध्यान किया जाता है, इससे वासनाएँ अनुशासित होती हैं। दर्शनकेन्द्र पर अरुण रंग (उगते सूर्य) का ध्यान किया जाता है। इससे अन्तर्दृष्टि जागृत होती है। ज्ञानकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान किया जाता है, इससे ज्ञानतंतु विकसित होते हैं। ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग का ध्यान किया जाता है, इससे आवेश, आवेग, क्रोध आदि भाव शांत होते हैं। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—

आनन्दकेन्द्र पर हरे रंग का ध्यान करते समय सर्वप्रथम यह अनुभव करना होता है कि अपने चारों ओर हरे रंग का प्रकाश फैल रहा है। फिर हरे रंग का श्वास लें और अनुभव करें कि प्रत्येक श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। उसके बाद चित्त को आनन्दकेन्द्र पर केन्द्रित कर चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें। फिर कुछ समय बाद यह अनुभव करें कि आनन्दकेन्द्र से हरे रंग के परमाणु निकलकर शरीर के चारों ओर फैल रहे हैं। उन्हें देखें और अनुभव करें कि भावधारा निर्मल हो रही है। इस प्रकार क्रमशः अलग-अलग चैतन्य केन्द्रों पर निर्धारित रंगों का ध्यान और अनुचिन्तन करना होता है। सबकी प्रक्रिया समान है।

2.8.7 अनुप्रेक्षा-भावना (Contemplation)

प्रेक्षाध्यान का अंतिम अंग है—अनुप्रेक्षा-भावना। प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति में दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं—प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा। प्रेक्षा का अर्थ है—निर्विचार होकर केवल देखना और अनुप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान में जो कुछ देखा उस पर बार-बार विचार करना। सच्चाइयों का ज्ञान करने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे 'सजेस्टोलॉजी' कहा जा सकता है। अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'ऑटोसजेशन' स्वयं को स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है।

अनुप्रेक्षा के प्रकार (Types of Contemplation)

अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग बहुत प्राचीन है। कुन्दकुन्द ने बारह अनुप्रेक्षा पर लिखा। स्वामी कार्तिकेय, विनयविजयजी आदि कई आचार्यों ने भी लिखा।

चार भावनाओं को मिलाने पर अनुप्रेक्षाओं के सोलह प्रकार भी होते हैं। सोलह अनुप्रेक्षाएँ निम्न हैं—

1. अनित्य अनुप्रेक्षा	2. अशरण अनुप्रेक्षा	3. संसार अनुप्रेक्षा	4. एकत्व अनुप्रेक्षा
5. अन्यत्व अनुप्रेक्षा	6. अशौच अनुप्रेक्षा	7. आश्रव अनुप्रेक्षा	8. संवर अनुप्रेक्षा
9. निर्जरा अनुप्रेक्षा	10. धर्म अनुप्रेक्षा	11. लोक अनुप्रेक्षा	12. बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा
13. मैत्री अनुप्रेक्षा	14. प्रमोद अनुप्रेक्षा	15. कारुण्य अनुप्रेक्षा	16. माध्यस्थ अनुप्रेक्षा।

इनका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

2.9 प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग (Special Constituents of Preksha Meditation)

प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग तीन हैं—

1. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, 2. विचार-प्रेक्षा, 3. अनिमेष-प्रेक्षा।

1. वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (Perception of Present Movement)

भगवान महावीर ने कहा—**खणं जाणाहि पंडिए** अर्थात् वर्तमान क्षण को जानो। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में—वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना—दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेषयुक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

चित्त का निर्माण करती है। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण ही संवर है। इससे अतीत में अर्जित कर्म-संस्कार के बंध का निरोध होता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

2. विचार-प्रेक्षा (Perception of Thoughts)

समग्र साधना का उद्देश्य है हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करें। केवल जानें और केवल देखें। किन्तु जब तक मन की चंचलता है, विचारों का प्रवाह आता रहता है, मन की एकाग्रता नहीं सधती। एकाग्रता के अभाव में ज्ञाता-द्रष्टा भाव की साधना फलीभूत नही होती। विचार की उत्पत्ति के मुख्य चार हेतु हैं—वस्तुदर्शन, स्मृति, कल्पना, परिस्थिति। विचार चंचलता पैदा करते हैं अत: विचार-प्रेक्षा करना साधना का एक विशिष्ट अंग है। क्योंकि जब हम विचारों के प्रवाह को देखना शुरू करते हैं तब धीरे-धीरे विचारों का प्रवाह रुक जाता है। हमारी दर्शन-शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरे के विचार-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं। अत: विचारों को देखना ध्यान-साधना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।

3. अनिमेष-प्रेक्षा (Perception of Fixed Look)

आचारांग सूत्र में उल्लेख मिलता है—भगवान महावीर प्रहर-प्रहर तक अपलक तिर्यक् भित्ति पर ध्यान करते थे। प्रेक्षाध्यान में भी अनिमेष प्रेक्षा का ध्यान कराया जाता है। किसी बिन्दु पर, दीवार पर, नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित कर अपलक दृष्टि से देखना अनिमेष प्रेक्षा है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार यह प्रयोग उन लोगों के लिए करणीय है, जो साधना का दीर्घकाल से अभ्यास कर रहे हैं, उनका मानना है यदि आधा घंटा तक अपलक दृष्टि से भींत को देखते रहें तो भींत विचित्र बन जायेगी। जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। अपने अनुभव की प्रस्तुति देते हुए वे लिखते हैं—मैंने एक चित्र सामने लेकर अनिमेष प्रेक्षा का प्रयोग किया। वह चित्र बीस मिनिट में ही विचित्र बन गया। उसमें से जितने रंग उभरे, जितने परिवर्तन आए, उनका वर्णन नही किया जा सकता। अत: अनिमेष प्रेक्षा भी ध्यान का एक विशिष्ट अंग है।

2.10 प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग (Supportive Constituents of Preksha Meditation)

प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग चार हैं— 1. आसन, 2. प्राणायाम, 3. मुद्रा, 4. ध्वनि।

1. आसन (Asana)

शरीर को स्वस्थ रखने का एक प्रयोग है—आसन। प्रेक्षाध्यान की साधना करने वालों के लिए प्रतिदिन आसन करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक शरीर को नहीं साधा जाता और एक आसन में स्थिरता से बैठने का अभ्यास नहीं होता तब तक ध्यान की गहराई में नहीं उतरा जा सकता। ध्यान की गहराई में जाने के लिए आसन को सिद्ध करना अनिवार्य है। आसनों का लगातार अभ्यास शरीर को जरा, व्याधि और इन्द्रिय-क्षीणता से भी बचाए रखता है। शरीर स्वस्थ रहने पर साधना सुगम हो जाती है।

आसन के लाभ—आसन का हमारे शरीर के कई तन्त्रों पर प्रभाव पड़ता है। इससे अस्थितंत्र, मांसपेशी तंत्र, पाचनतंत्र, रक्तपरिसंचरण तंत्र, नाड़ीतंत्र तथा अन्त:स्रावी तंत्र प्रभावित होते हैं। आसन हमारे शरीर के विजातीय तत्त्वों का निष्कासन करता है। शरीर के सभी अवयवों को स्वस्थ बनाता है। शक्ति का ऊर्ध्वारोहण तथा चित्त की चंचलता को कम करता है।

2. प्राणायाम (Yogic Respiratory Control)

प्रेक्षाध्यान का दूसरा सहायक अंग प्राणायाम है। श्वास पर नियंत्रण किये बिना वृत्तियों और भावों का परिष्कार नही हो सकता। हमारी जितनी वृत्तियाँ हैं, चाहे वे निषेधात्मक हो या विधेयात्मक, सबके साथ श्वास का संबंध है। लम्बा, दीर्घ श्वास होने पर विधेयात्मक भावों का जन्म होता है। छोटा श्वास होने पर निषेधात्मक भावों का जन्म होता है। प्राणायाम हमारे श्वास को नियंत्रित करता है। इड़ा और पिंगला का संतुलन भी प्राणायाम के माध्यम से होता है, जिससे वृत्तियों और भावों का परिष्कार होता है। अत: प्राणायाम का भी प्रेक्षाध्यान में बहुत महत्त्व है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्राणायाम के लाभ—प्राणायाम के अनेक लाभ हैं। इससे फेफड़ों की क्षमता का विकास होता है। मानसिक शक्ति का विकास होता है। स्मृति विकास एवं प्रज्ञा का जागरण होता है। नाड़ियों का शोधन होता है तथा आयुष्य दीर्घ होता है।

3. मुद्रा (Postures)—प्रेक्षाध्यान भाव-परिवर्तन की एक प्रक्रिया हैं। जैसे हमारे भाव होते हैं, वैसी हमारे शरीर की मुद्राएँ बनती हैं। अगर हम आलस्य में हैं तो शरीर की वैसी मुद्रा बनेगी। अगर शोक में हैं तो वैसी मुद्रा बनेगी। इस प्रकार प्रसन्नता, जल्दबाजी, धैर्य, क्रोध, लोभ, घृणा आदि जितने भी भाव हैं, उतनी ही उनकी मुद्राएँ स्पष्टतया शरीर पर दृष्टिगोचर होने लगती हैं। प्रेक्षाध्यान का एक उद्देश्य है—निषेधात्मक भावों का निरसन और विधेयात्मक भावों का विकास। अगर हम विधेयात्मक भावों की मुद्राएँ ध्यान-काल में अथवा जीवन में निरन्तर काम में लें तो भीतर में हमारे भाव भी उसी अनुपात में बदलने लगते हैं, इसलिए प्रेक्षाध्यान साधना में जिस प्रकार आसनों का महत्त्व है, उसी प्रकार मुद्राओं का भी महत्त्व है।

4. ध्वनि (Sounds)—प्रेक्षाध्यान केवल एकाग्रता का प्रयोग ही नहीं है, वह जीवन का समग्र दर्शन है। उसमें ध्यान से पूर्व अर्हम्, ओम् और महाप्राण ध्वनि के प्रयोग विशेष रूप से करवाए जाते हैं। इन ध्वनियों के प्रभाव से मन की चंचलता समाप्त होती है, आस-पास का वातावरण ध्यान योग्य बन जाता है। ध्वनियों के प्रयोग से हमारे चारों ओर कवच का निर्माण हो जाता है। इससे बाहर का प्रभाव संक्रान्त नहीं होता। ध्यान-साधना में कोई बाधा नही आती है।

2.11 प्रेक्षाध्यान की उपयोगिता (Benefits of Preksha Dhyana)

प्रेक्षाध्यान की साधना अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। यद्यपि प्रेक्षाध्यान का मुख्य लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार, समाधि की अवस्था को प्राप्त करना है। किन्तु इससे शरीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक दृष्टि से भी स्वस्थता प्राप्त होती है। शारीरिक दृष्टि से ग्रंथियों के स्रावों में परिवर्तन होता है। मानसिक दृष्टि से लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि परिस्थितियों में संतुलन रख पाने की क्षमता जागृत होती है और भावनात्मक दृष्टि से अशुभ भावो का परिष्कार और शुभ भावों का निर्माण होता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपने साहित्य में प्रेक्षाध्यान के परिणामों की चर्चा निम्न बिन्दुओं के संदर्भ में की है।

2.11.1 शारीरिक दृष्टि से (From Physical Point of View)

शारीरिक दृष्टि से प्रेक्षाध्यान बहुत उपयोगी है। ध्यान का प्रारम्भ करने के कुछ मिनट पश्चात् पूरे शरीर में जैविक प्रक्रिया बंद हो जाती है। वैज्ञानिकों ने यह शोध की है कि कुछ घंटों की गहरी नींद के बाद जो स्थिति बनती है, वह ध्यान काल में कुछ मिनिटों में ही बन जाती है। ऑक्सीजन की खपत भी कम हो जाती है। ध्यानकाल में त्वचा की अवरोध क्षमता नींद की अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है। इस स्थिति में विद्युत तरंगें शरीर के भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। ध्यान के क्षणों में श्वास की गति, मस्तिष्क की विद्युत तरंगों तथा रोग- प्रतिरोधक शक्ति में परिवर्तन होता है।

1. शरीर का कायाकल्प—प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत की जाने वाली शरीर-प्रेक्षा की क्रिया उत्सर्जन तंत्र को सक्रिय एवं सक्षम बनाये रखने में सहायक होती है, जिससे शरीर का मल सहजतया विसर्जित हो जाता है। शरीरप्रेक्षा के द्वारा रक्तसंचार-तंत्र ठीक काम करने लग जाता है। इससे रक्तसंचार एवं धमनियों में होने वाले अवरोध दूर होते हैं। रक्तचाप संतुलित होता है। हृदय को अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ता।

शरीरप्रेक्षा का प्रभाव पाचन तंत्र पर पड़ने से आमाशय, यकृत, आंतें आदि सभी अवयवों की कार्यप्रणाली ठीक चलने लगती है। इससे प्रत्येक कोशिका को पर्याप्त मात्रा में पोषक तत्त्व मिलते हैं। उदर संबंधी सभी रोगों का स्वत: निवारण हो जाता है। शरीरप्रेक्षा का सीधा प्रभाव नाड़ीतंत्र पर पड़ता है। हमारे मस्तिष्क और मन से संबंधित सारी गड़बड़ियां नाड़ीतंत्र के अवरोधों और विकृतियों के कारण पैदा होती हैं। जब नाड़ीतंत्र शुद्ध होता है तो सारी मानसिक बीमारियाँ स्वत: समाहित हो जाती हैं।

2. बुढ़ापे का निवारण—बुढ़ापे का मूल कारण है—इन्द्रियों की शक्ति का क्षीण होना, धमनियों, हड्डियों का अकड़ना, पाचक रसों का कम होना तथा आवेश-आवेग की प्रचुरता। बहुत सारे वैज्ञानिक बुढ़ापे के निवारण की खोज में लगे हैं और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ध्यान, व्यायाम और आहार का संतुलन—इन तीन उपायों के द्वारा बुढ़ापे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को रोका जा सकता है इस संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मानना है—ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा और श्वास की प्रेक्षा की जाए तो इस प्रकार की चेतना का निर्माण होता है कि बहुत सारे मानसिक आघातों से आदमी बच सकता है। शरीर विज्ञान मानता है कि जिसका पाचन, रक्तसंचार और ग्रंथितंत्र स्वस्थ रहता है वह उतना ही बुढ़ापे से दूर रहता है।

रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास—प्रेक्षाध्यान के द्वारा रोग-प्रतिरोधात्मक शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। शरीरप्रेक्षा से शरीर में सफेद रक्त कणिकाएँ, लसिका कोशिकाएँ और अन्य रक्षात्मक पदार्थ उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ जाती है। अत: शारीरिक दृष्टि से प्रेक्षाध्यान के प्रयोग उपयोगी हैं।

2.11.2 मानसिक दृष्टि से (From Mental Point of View)

प्रेक्षाध्यान से मानसिक संतुलन सधता है। जैसे-जैसे इसकी साधना आगे बढ़ती है, व्यक्ति बड़ी से बड़ी घटना होने पर भी संतुलन बनाए रख सकता है।

1. चंचलता की निवृत्ति—प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत कायोत्सर्ग का प्रयोग करवाया जाता है। कायोत्सर्ग शिथिलीकरण का प्रयोग है। शिथिलीकरण का अर्थ है—चंचलता की निवृत्ति। शरीर की सारी प्रवृत्तियों का विसर्जन करना। हमारे दो प्रकार के नाड़ी संस्थान हैं—स्वत: चालित नाड़ी संस्थान और इच्छाचालित नाड़ी संस्थान। कायोत्सर्ग में हम पहले इच्छाचालित नाड़ी संस्थान को स्थिर करते हैं। इस पर नियंत्रण स्थापित होने पर स्वत:चालित नाड़ी संस्थान अपने आप स्थिर होने लग जाता है। हृदय की धड़कन भी कम होने लग जाती है। रक्त चालन की क्रिया भी मंद पड़ जाती है। प्राणवायु या ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है, जिससे चंचलता कम होती है।

2. मानसिक एकाग्रता—श्वासप्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का महत्त्वपूर्ण आलम्बन है। मानसिक एकाग्रता का तात्पर्य है वर्तमान में चलने वाली क्रिया पर पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना। न अतीत की स्मृति, न भविष्य की कल्पना। चित्त को वर्तमान क्रिया में एकाग्र रखना। श्वास प्रेक्षा का प्रयोग चित्त की एकाग्रता को, तन्यमता को बढ़ाने का सक्षम उपाय है।

2.11.3 आध्यात्मिक दृष्टि से (From Spiritual Point of View)

प्रेक्षाध्यान से आध्यात्मिक परिणाम के रूप में सर्वप्रथम आदतों का परिष्कार, अन्त:करण का परिवर्तन तथा अवधि ज्ञान की प्राप्ति होती है। चैतन्य केन्द्र निर्मल होते हैं, आनन्द का जागरण एवं शक्ति का संस्थान सक्रिय होता है।

1. चैतन्य-केन्द्र निर्मल—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के द्वारा चैतन्य केन्द्र निर्मल बनते हैं। जब हम चैतन्य केन्द्रों पर प्रेक्षा करते हैं तब विद्युत की धारा, प्राण की धारा का प्रवाह इतना तेज होता है कि वहां जमा मैल साफ हो जाता है और वह विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र बन जाता है। निर्मलता में से ही चैतन्य अभिव्यक्त हो सकता है जब तक वे निर्मल नहीं बनते तब तक ज्ञान का प्रकाश, उसकी रश्मियाँ बाहर को प्रकाशित नहीं करती। अत: ध्यान के द्वारा ये चैतन्यकेन्द्र निर्मल बनते हैं।

2. वृत्तियों का उपशमन—शरीरप्रेक्षा करने वाला साधक शरीर के प्रति जागरूक बनता है और जब व्यक्ति शरीर के प्रति सजग बन जाता है तब शरीर के प्रमुख केन्द्रों के प्रति, संवेदन बिन्दुओं के प्रति, मर्मस्थानों के प्रति जागरूक हो जाता है। हमारे शरीर में क्रोध, मान आदि वृत्तियों की अभिव्यक्ति के केन्द्र हैं। वे केन्द्र जब उत्तेजित होते हैं तो क्रोध आदि संवेदन के रूप में बदल जाते हैं किन्तु यदि हम शरीर के प्रति जाग जायें, इन स्नायुओं पर अपना नियंत्रण कर लें, नाड़ी संस्थान पर अपना प्रभुत्व कर लें और उन्हें भीतर के आवेगों के साथ असहयोग करने का निर्देश दे दें तो वे वृत्तियां बाहर प्रकट नहीं हो पाती। यह उपशमन की प्रक्रिया है।

3. प्रज्ञा का जागरण : समता का विकास—कायोत्सर्ग की एक और महत्त्वपूर्ण निष्पत्ति है—प्रज्ञा का जागरण। जब प्रज्ञा जागती है, तब जीवन मे समता स्वत: अवतरित होती है। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, निन्दा, प्रशंसा, जीवन-मरण—इन द्वन्द्वों में सम रहने की क्षमता उसी व्यक्ति में विकसित होती है, जो कायोत्सर्ग को साध लेता है। उसके लिए प्रिय और अप्रिय में कोई भेद नहीं होता। दोनों आयाम समाप्त हो जाते हैं। तीसरा आयाम उद्‌घाटित होता है, वह आयाम है—समता का।

4. प्राणशक्ति का विकास—शरीर, इन्द्रिय, मन आदि अचेतन हैं। प्राण ऊर्जा के प्रवाह से ये सचेतन बनते हैं। प्राणशक्ति का बड़ा स्रोत है—श्वास। हम जितना गहरा श्वास लेते हैं, उतनी ही प्राणशक्ति हमारे भीतर जाती है। श्वास

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दर्शन से प्राणशक्ति बढ़ जाती है। श्वास के आधार पर मोटर या ट्रक को भी छाती पर से निकालने जैसा चमत्कार प्रदर्शित किया जा सकता है। आत्मा में अनन्त शक्ति है, श्वास इसे प्रमाणित करता है।

5. ज्ञाता-दृष्टा का विकास—श्वासप्रेक्षा ज्ञाता-द्रष्टा भाव को विकसित करने का भी सक्षम उपाय है। आत्मा का मूल स्वभाव है—जानना और देखना। जब हम श्वास को देखने का अभ्यास करते हैं तो सोचना छूट जाता है, केवल देखना शेष रह जाता है। विकल्पों से हटकर अविकल्प और चिन्तन से हटकर अचिन्तन की दिशा में प्रस्थान होता है।

6. शक्ति का जागरण—दीर्घश्वास प्रेक्षा शक्ति जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इस प्रक्रिया में हम केवल प्राण को ही नहीं पकड़ रहे, अपितु समूची प्राणशक्ति को जागृत करने का प्रयत्न करते हैं। श्वास को देखने से शक्ति के मूल स्रोत जाग्रत होते हैं। नई दिशाओं का उद्घाटन होता है।

2.12 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. प्रेक्षा का अर्थ क्या है?
2. प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा कौन-सी है?
3. भावक्रिया किसे कहते हैं?
4. प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग कौन-से हैं?
5. चैतन्यकेन्द्र कितने हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दें—

1. प्रेक्षाध्यान का अर्थ बताते हुए उसके ध्येय प्राप्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें?
2. प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा का विस्तृत विवेचन करें?
3. प्रेक्षाध्यान के अंगों पर प्रकाश डालते हुए उसकी उपयोगिता को समझाएँ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग-5 अहिंसा और अणुव्रत आन्दोलन (Non-violence and Anuvrata Movement)

संवर्ग प्रस्तावना

अहिंसा के प्रवर्तक के रूप में जिन लोगों को जाना जाता है, उनमें भगवान महावीर के साथ महात्मा बुद्ध से लेकर बहुत सारे संत एवं चिंतक शामिल हैं, जिन्होंने इस धरती पर आपसी सद्भाव और प्रेम की भावना को बढ़ाने के लिए कार्य किया। आधुनिक सदी में महात्मा गांधी, मार्टिन लुथर, नेल्सन मंडेला, आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ इत्यादि कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने अहिंसा दर्शन को विश्व दर्शन की ओर ले जाने के लिए एक नया दिशाबोध प्रदान किया।

जैन धर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। अहिंसा जैन दर्शन का मूल आधार और प्राण है। अहिंसा वह धुरी है, जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। अहिंसा वह आधार वाक्य है, जिसमें आचार के सभी नियम समाहित हैं। अहिंसा वर्तमान युग की समस्त समस्याओं का समाधान है। अहिंसा का विकास होने पर न भ्रष्टाचार संभव है और न अपराध संभव है।

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है—हिंसा न करना। किन्तु इसके तात्पर्यार्थ में जायें तो अहिंसा केवल निषेधात्मक ही नहीं विधेयात्मक भी है। प्राणवध नहीं करना, राग-द्वेष नहीं करना या प्रवृत्तिमात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है तथा सत्प्रवृत्ति करना, आध्यात्मिक सेवा, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है। अहिंसा का जीवन-व्यवहार में आचरण कैसे हो? इसके लिए आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा प्रशिक्षण की प्रायोगिक प्रक्रिया प्रस्तुत की। हिंसा का मूल कारण है—परिग्रह। अतः अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है—परिग्रहपरिमाण व्रत को समझना। बिना नैतिकता के भी अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। नैतिकता के विकास के लिए आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का विकास किया। अणुव्रत के नियम बनाए, जिनकी स्वस्थ समाज संरचना में अहं भूमिका है। इस पांचवीं इकाई में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है—

1. अहिंसा, अहिंसा प्रशिक्षण और अपरिग्रह—परिग्रहपरिमाण व्रत।
2. अणुव्रत आन्दोलन : स्वस्थ समाज संरचना के आधार और उसके कार्यक्षेत्र।

अहिंसा, अहिंसा-प्रशिक्षण और परिग्रहपरिमाण-व्रत (Non-violence, Training of Non-violence and Limit to Possession)

संरचना

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 अहिंसा
1.3 हिंसा की परिभाषा
1.4 हिंसा का स्वरूप
1.5 हिंसा का कारण
1.6 हिंसा के भेद
1.7 अहिंसा की परिभाषा
1.8 अहिंसा के प्रकार
1.9 अहिंसा के चार विकल्प
1.10 अहिंसा-प्रशिक्षण
1.10.1 हृदय-परिवर्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.10.2 दृष्टिकोण-परिवर्तन
1.10.3 जीवनशैली-परिवर्तन
1.10.4 आजीविकाशुद्धि-प्रशिक्षण
1.11 परिग्रहपरिमाण व्रत
1.12 परिग्रह का लक्षण
1.13 परिग्रह के प्रकार
1.14 परिग्रहपरिमाण व्रत की मर्यादाएँ
1.15 परिग्रह का कारण
1.16 परिग्रह का परिणाम
1.17 परिग्रहपरिमाण व्रत का औचित्य
1.18. बोधप्रश्न

1.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

❖ जैन दर्शन में वर्णित अहिंसा की सूक्ष्मता को समझ सकेंगे।

❖ हिंसा के कारणों को जान सकेंगे।

❖ अहिंसा-प्रशिक्षण की प्रक्रिया से परिचित हो सकेंगे।

❖ परिग्रहपरिमाण व्रत के औचित्य को जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

इस इकाई में मुख्य रूप से अहिंसा, अहिंसा प्रशिक्षण और अपरिग्रह का विवेचन किया जा रहा है। जैन दर्शन के अनुसार किसी को जान से मार देना ही हिंसा नहीं है अपितु मन से किसी के विषय में बुरा सोचना, निषेधात्मक भाव रखना तथा वाणी से किसी को दुःख या कष्ट पहुंचाने वाले शब्दों का प्रयोग करना भी हिंसा है। द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के भेद से अहिंसा के मुख्य दो प्रकार हैं। इनका विस्तार अनेक रूपों में उपलब्ध होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ का मानना है कि हिंसा और अहिंसा के स्रोत कही बाहर नही, हमारे भीतर ही हैं। हमारे नकारात्मक भाव हिंसा के कारण बनते हैं और हमारे सकारात्मक भाव अहिंसा के कारण बनते हैं। क्रोध, अहंकार, लोभ, घृणा, भय, साम्प्रदायिक विद्वेष, जातीय विद्वेष आदि नकारात्मक भाव हैं तथा सहिष्णुता, विनम्रता, प्रेम, अभय, साम्प्रदायिक सद्भाव, मानवीय एकता आदि सकारात्मक भाव हैं। प्रशिक्षण के द्वारा नकारात्मक भाव को सकारात्मक भाव में बदला जा सकता है। अहिंसा-प्रशिक्षण के चार सूत्र हैं—1. हृदय-परिवर्तन, 2. दृष्टिकोण-परिवर्तन, 3. जीवन-शैली-परिवर्तन और, 4. आजीविकाशुद्धि, आजीविका प्रशिक्षण। हिंसा और परिग्रह का गहरा संबंध है। अत: अहिंसा के विकास के लिए अपरिग्रह की अवधारणा को जानना और अपने व्यक्तिगत जीवन में परिग्रह का सीमाकरण करना आवश्यक है।

1.2 अहिंसा (Non-Violence)

मानव जीवन के दो आधार स्तम्भ हैं—आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है और विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा सोचता है, वैसा करता है और जैसा करता है, वैसा सोचता भी है। आचार और विचार—दोनों एक-दूसरे पर आधारित हैं। जैन दर्शन की आचार-मीमांसा अहिंसा पर आधारित है। **अहिंसा परमो धर्मः** उनका मुख्य घोष है। अहिंसक आचार-विचार में ही मानव का विकास निहित है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत अहिंसा के ही पोषक हैं। जैन धर्म में अहिंसा को सर्वभूतक्षेमंकरी और मातृ-स्थानीय माना गया है। जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं। अत: अच्छे आचार का पालन करने के लिए अहिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है और अहिंसा को समझने के लिए सबसे पहले हिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.3 हिंसा की परिभाषा (Definition of Violence)

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है—**'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'** अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। जैन दर्शन में दस प्राण माने गए हैं, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य प्राण। श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का जो बाहरी रूप है, उसे द्रव्यप्राण कहते हैं और उनके भीतर सुनने, देखने आदि की जो क्षमता है, उसे भावप्राण कहते हैं। इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। हिंसा की उपर्युक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है, फिर वचन का और फिर काय का। प्रमादवश व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जागती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जागृत हुआ था, उस जीव का प्राणघात करता है।

1.4 हिंसा का स्वरूप (Nature of Violence)

हिंसा की परिभाषा से स्पष्ट है कि हिंसा के दो रूप होते हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव आना या किसी प्राणी को मारने का संकल्प करना भावहिंसा है। जहां किसी को मारने का मन में संकल्प नहीं किया जाता किन्तु अनायास किसी के प्राणों का घात हो जाता है, वहां द्रव्यहिंसा है। इस प्रकार मन में हिंसा के भाव आना भावहिंसा है तथा भावहिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ घटती हैं, वे द्रव्यहिंसा की कोटि में आती हैं।

जैनदर्शन में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गए हैं—

1. भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। 2. भावहिंसा पर द्रव्यहिंसा नहीं।
3. भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा। 4. न भावहिंसा और न द्रव्यहिंसा।

इन चारों विकल्पों को उदाहरण से समझ सकते हैं। पहले विकल्प का उदाहरण—जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा लेता है और सर्प को मार डालता है। यहाँ सर्प को मारने का उद्देश्य भावहिंसा और सर्प को मार डालना द्रव्यहिंसा है।

यदि किसी व्यक्ति ने सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा उठाया पर सर्प भाग गया, सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया। यहां भावहिंसा है पर द्रव्यहिंसा नहीं।

यदि कोई व्यक्ति कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा है और संयोगवश उसके पीटने से पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने में चोट खाकर मर जाए तो वहां पर भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा है। क्योंकि धान पीटने वाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भावना नहीं थी।

यदि कोई व्यक्ति सर्प को देखकर यह सोचता है कि यह भी एक प्राणी है अत: स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। उसे न तो मारने की सोचता है और न मारता है तो यहाँ न भावहिंसा है और न द्रव्यहिंसा है।

सामान्यतया द्रव्यहिंसा को ही हिंसा माना जाता है। मन में भले ही बुरे विचार हैं, मारने का संकल्प है पर जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुंचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नहीं समझा जाता। किन्तु जैनदर्शन में हिंसा का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया और कहा गया—भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है। कर्म-बंधन का कारण है। भावहिंसा के बिना यदि मात्र द्रव्यहिंसा होती है तो वह कर्म-बंधन का कारण नहीं बनती है।

1.5 हिंसा के कारण (Causes of Violence)

हिंसा एक है पर उसके कारण अनेक हैं। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी मौलिक मनोवृत्तियां हिंसा का कारण हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार हिंसा का कारण हमारे पूर्वकृत कर्मों का विपाक है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से हिंसा के प्रेरक तत्त्व हमारे जीन एवं रसायन में विद्यमान हैं। निमित्तों का योग पाकर वे रसायन हिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार हिंसा के अनेक कारण बन सकते हैं, जिनमें कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हिंसा : आन्तरिक कारक तत्त्व

1. शरीर के स्तर पर

❖ नाड़ीतंत्रीय असंतुलन, ❖ रासायनिक असंतुलन।

2. सूक्ष्म शरीर के स्तर पर

❖ कर्म-विपाक, ❖ मलिन आभामंडल।

3. चेतना के स्तर पर

❖ मानसिक तनाव, ❖ भावनात्मक तनाव,
❖ निषेधात्मक दृष्टिकोण, ❖ मानसिक चंचलता,
❖ हीनभावना, ❖ वैचारिक आग्रह।

हिंसा : बाह्य कारक तत्त्व

❖ असन्तुलित समाज व्यवस्था, ❖ असन्तुलित राजनीतिक व्यवस्था,
❖ जातीय और रंगभेद की समस्या, ❖ मानवीय संबंधों में असंतुलन,
❖ आर्थिक स्पर्धा और अभाव, ❖ समाचार-पत्र, मीडिया।

1.5.1 हिंसा का कारण अभाव (Deficiency)

जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपड़ा और मकान। इनका अभाव होने पर व्यक्ति हिंसक बन जाता है। भूखा व्यक्ति, गरीब व्यक्ति अपने जीवन को चलाने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। क्योंकि जिजीविषा-जीने की चाह प्राणी मात्र की मौलिक मनोवृत्ति है।

1.5.2 असंतुलित आहार (Imbalance diet)

हिंसा का कारण है—असंतुलित आहार। मनुष्य के आहार का उसके स्वभाव के साथ गहरा संबंध होता है। इसीलिए कहा जाता है—जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। तामसिक और राजसिक भोजन व्यक्ति के भीतर मूर्च्छा और चंचलता पैदा करते हैं। मूर्च्छा और चंचलता हिंसा को बढ़ावा देती हैं।

1.5.3 तनाव (Tension)

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—तनाव। वही व्यक्ति हिंसा करता है, जो तनाव से ज्यादा ग्रस्त होता है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक के भेद से तनाव के तीन प्रकार हैं। भावनात्मक तनाव आवेशजन्य और अवसादजन्य होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाला तनाव आवेशजन्य तनाव है। निराशा, निष्क्रियता और निठल्लापन आदि अवसादजन्य तनाव हैं। ये दोनों प्रकार के तनाव व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाते हैं।

1.5.4 निषेधात्मक भाव (Negative Thoughts)

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—निषेधात्मक भाव। घृणा, ईर्ष्या, भय, कामवासना—ये सब निषेधात्मक भाव हैं। इनके वशीभूत होकर भी व्यक्ति हिंसा करता है। आज जाति, रंग आदि के आधार पर जो हिंसा हो रही है, उसके पीछे घृणा का भाव ही प्रबल है।

1.5.5 रासायनिक असंतुलन (Imbalance of Chemical Fluids)

हिंसा का एक बड़ा कारक तत्त्व है—रासायनिक असंतुलन। हिंसा केवल बाहरी कारणों से ही नही होती इसके भीतरी कारण भी हैं और वह है—रासायनिक असंतुलन। हमारी ग्रंथियों में रसायन बनते हैं। वे संतुलित अवस्था में होने पर जीवन में संतुलन स्थापित रहता है किन्तु इन रसायनों में असंतुलन होने पर व्यक्ति का मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है और उसके भीतर हिंसा की वृत्तियां जाग जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.5.6 नाड़ीतंत्रीय असंतुलन (Imbalance of Nervous System)

नाड़ीतंत्रीय असंतुलन भी हिंसा का एक कारण है। नाड़ीतंत्रीय असंतुलन होने पर व्यक्ति अकारण ही हिंसा करने लगता है। मारने का कोई प्रयोजन नहीं होता और न ही कोई बदला लेने की भावना होती है। नाड़ीतंत्रीय असंतुलन के कारण हिंसा करना, मारना व्यक्ति के आनन्द और मनोरंजन का विषय बन जाता है।

1.5.7 कर्म का विपाक (Karma)

बहुत बार बाहर में हिंसा का कोई दृश्य कारण नही होता। व्यक्ति शांति से बैठा हुआ है, किन्तु कर्म का संस्कार अचानक इतना प्रबल विपाक (उदय) में आ जाता है कि व्यक्ति बिना कारण, बिना परिस्थिति हिंसा करने के लिए मजबूर हो जाता है।

1.6 हिंसा के भेद (Types of Violence)

हिंसा की उत्पत्ति का मूल कारण है—कषाय। ये कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्ही कषायों के कारण सरंभ, समारंभ तथा आरम्भ हिंसा होती है। सरंभ, समारंभ और आरम्भ के भेद से हिंसा के तीन प्रकार हैं—

1. **सरंभ**—हिंसा करने का मन में जो विचार आता है, उसे सरंभ कहते हैं।

2. **समारंभ**—हिंसा करने के लिए जो उपक्रम किया जाता है, उसे समारंभ कहते हैं।

3. **आरम्भ**—प्राणघात तक जो क्रियाएँ की जाती हैं, उसे आरम्भ कहते हैं।

इस प्रकार चार कषाय को सरंभ आदि तीन से गुणा करने पर हिंसा के बारह प्रकार हो जाते हैं। जैन दर्शन में हिंसा मन, वचन और काया से होती है अत: बारह को तीन से पुन: गुणा करने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं। मन, वचन, काय—इन तीनों योग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीन करण कहलाते हैं। इस प्रकार हिंसा के छत्तीस भेद को इन तीन करण से गुणा करने पर 108 भेद माने जाते हैं।

जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से विभाजित कर उसके चार भेद बताये हैं—

1. **आरंभजा**—जीवन निर्वाह के निमित्त भोजन आदि तैयार करने में जो हिंसा होती है,उसे आरंभजा हिंसा कहते हैं।

2. **उद्योगजा**—खेती-बाड़ी, आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग में व्यवसाय के निमित्त जो हिंसा होती है, उसे उद्योगजा हिंसा कहते हैं।

3. **विरोधजा**—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधजा हिंसा कहते हैं।

4. **संकल्पजा**—संकल्पपूर्वक या पहले से सोच-विचार कर मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना संकल्पजा हिंसा है।

प्रथम तीन प्रकार की हिंसा को श्रावक पूर्णत: नही छोड़ सकता, आंशिक रूप से छोड़ता है किन्तु संकल्पजा हिंसा उसके लिए सर्वथा वर्जनीय है।

हिंसा के निम्न पांच भेद भी उपलब्ध होते हैं—1. अर्थदण्ड, 2. अनर्थदण्ड, 3. हिंसादण्ड, 4. अकस्मात् दण्ड, 5. दृष्टिविपर्यास दण्ड।

1. **अर्थदण्ड**—यदि कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी जाति, परिवार, मित्र, घर आदि के लिए स्थावर प्राणियों की स्वयं घात करता है, दूसरों से करवाता है, घात करने को अच्छा समझता है, तो वह अर्थदण्ड के द्वारा पाप-कर्म का बंधा करता है। यह प्रयोजन सहित हिंसा है।

2. **अनर्थदण्ड**—यदि कोई व्यक्ति बिना प्रयोजन कुतूहलवश प्राणियों को मारता है, छेदन-भेदन करता है, अंगों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

को काटता है, चपलतावश वनस्पतियों को उखाड़ देता है, जंगल आदि में आग लगा देता है, तो वह अनर्थदण्ड के द्वारा पापकर्म का बंध करता है।

3. हिंसादण्ड—यदि कोई व्यक्ति दूसरे प्राणियों को इस आशंका से मार देता है कि 'यह जीवित रहेगा तो मुझे मार डालेगा' जैसे कंस ने देवकी पुत्रों को उनके द्वारा भविष्य में अपने नाश की शंका करके मार डाला था। बहुत से व्यक्ति सिंह, सर्प आदि प्राणियों का वध इसलिए कर डालते हैं कि ये जीवित रहकर दूसरे प्राणियों का वध करेंगे। इस प्रकार किसी भी त्रस या स्थावर जीवों का घात व्यक्ति स्वयं करता है, दूसरों से करवाता है, करने वालों को अच्छा मानता है तो उसको हिंसा हेतुक क्रिया से पाप-कर्म का बंध होता है।

4. अकस्मात् दण्ड—किसी प्राणी की घात करने के अभिप्राय से चलाए हुए शस्त्र के द्वारा यदि दूसरे प्राणी का वध हो जाए तो उसे अकस्मात् दण्ड कहते हैं। जैसे मृग का वध कर अपनी जीविका चलाने वाला व्याध मृग को लक्ष्य कर बाण चलाता है परन्तु वह बाण कभी-कभी मृग को न लगकर किसी पक्षी को लग जाता है। इस प्रकार पक्षी को मारने का आशय न होने पर भी पक्षी का वध हो जाना अकस्मात् दण्ड कहलाता है।

5. दृष्टिविपर्यास दण्ड—अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड कहलाता है। जब मित्र को शत्रु के भ्रम से तथा साहूकार को चोर के भ्रम से दण्ड दिया जाता है तो वह दृष्टि-विपर्यास से होने वाली हिंसा के द्वारा पाप-कर्म का बंध करता है।

हिंसा के स्वरूप और कारणों को समझने के बाद अहिंसा का स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है।

1.7 अहिंसा की परिभाषा (Definition of Non-violence)

अहिंसा शब्द का सीधा-सा अर्थ है—हिंसा न करना। संसार के सभी जीव स्थावरकाय और त्रसकाय के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है, वे त्रस-जीव हैं। त्रस या स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करना ही अहिंसा है।

अहिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा गया—**'प्राणानामनतिपातः सर्वभूतेषु संयमः अप्रमादो वा अहिंसा'**। अहिंसा की इस परिभाषा से तीन बातें फलित होती हैं

1. प्राणों का हनन न करना—जैन दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय आदि दस प्राण माने गए हैं। उनमें से किसी भी प्राण का हनन न करना अहिंसा है।

2. प्राणीमात्र के प्रति संयम रखना—सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार अहिंसा है।

3. अप्रमत्त रहना—प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

अप्रमत्त अवस्था में जागरूकता इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रमादवश कोई भी हिंसा नहीं करता।

इस प्रकार जैनदर्शन में हिंसा का संबंध मात्र प्राण-वियोजन करने से नही है, उसका व्यापक अर्थ है। किसी भी जीव को उत्पीड़ित करना, शोषण करना, अतिरिक्त श्रम लेना, अनुचित लाभ उठाना, मर्मभेदी कटु शब्द बोलना, अपमानित करना, दूसरों के अधिकारों में कटौती करना आदि-आदि विषम व्यवहार भी हिंसा है। असद् चिन्तन एवं असत्प्रवृत्ति मात्र हिंसा है। सद्चिन्तन और सत्प्रवृत्ति मात्र अहिंसा है।

जैनदर्शन में हिंसा और अहिंसा के भेद का आधार राग-द्वेष है। जहां राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति है, वहां किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन न होने पर भी भाव-हिंसा है और जहां पर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नही है, वहां पर किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन हो जाने पर भी भावहिंसा नहीं है, मात्र द्रव्यहिंसा है।

1.8 अहिंसा के प्रकार (Types of Non-violence)

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ हिंसा न करने से लिया जाता है, किन्तु इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक और विध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ोयात्मक दोनों हैं अत: निषेधात्मक और विधेयात्मक के भेद से अहिंसा के दो प्रकार हो जाते हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नही करना, प्राण-वध नही करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है।

जैन दर्शन के अनुसार तीन योग (मन, वचन, काय) और तीन करण (करना, कराना, अनुमोदन करना) से हिंसा न करना ही पूर्ण अहिंसा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से अहिंसा के नौ प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. मन से हिंसा न करना।
2. मन से हिंसा न करवाना।
3. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
4. वचन से हिंसा न करना।
5. वचन से हिंसा न करवाना।
6. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
7. काय से हिंसा न करना।
8. काय से हिंसा न करवाना।
9. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। अहिंसा का यह निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक प्रचलित है किन्तु अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है।

सत्प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय करना, दान करना, ज्ञान-चर्चा आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है और विधेयात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक सक्रियता होती है।

जैनदर्शन के अनुसार सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अत: सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ। इस कथन में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त— विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है—'सबमें अपने आपको देखो'। निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है—'किसी को भी हानि मत पहुंचाओ'। सबमें अपने आपको देखने का अर्थ है—सबको हानि पहुंचाने से बचाना। यह हानि से बचाना, सबमें एक की कल्पना करने से विकसित होता है। अत: अहिंसा का केवल निषेधात्मक स्वरूप ही नहीं विधेयात्मक स्वरूप भी है।

अहिंसा के चार विकल्प (Four types of Non-violence)

अहिंसा की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अहिंसा के दो रूप होते हैं—भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा। मन में यह संकल्प करना कि मैं किसी भी प्राणी का घात नहीं करूंगा, भाव अहिंसा है तथा मन से किये गए संकल्प को क्रिया रूप देना अर्थात् वचन और काय से उसका पालन करना द्रव्य अहिंसा है। भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं—

- ❖ भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा।
- ❖ भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नही।
- ❖ भाव अहिंसा नही किन्तु द्रव्य अहिंसा।
- ❖ न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा।

1. भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा और सचमुच वह ऐसा करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप और द्रव्यरूप दोनों ही हुई।

2. भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं—एक मुनि किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प लेता है और ईर्या-समिति पूर्वक अपनी राह पर देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने में घात हो जाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा तो है पर द्रव्य अहिंसा नही है।

3. भाव अहिंसा नहीं पर द्रव्य अहिंसा—एक मछुआरा मछली मारने के उद्देश्य से जाल फैलाता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा नही है किन्तु द्रव्य अहिंसा है।

4. न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा—मांस आदि के लोभ से आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.9 अहिंसा का पालन क्यों? (Why to observe Non-violence)

अहिंसा पालन करने का व्यावहारिक हेतु यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, सभी को अपना जीवन प्रिय होता है। मरना कोई नही चाहता। मारने से उन्हें कष्ट पहुंचता है। किसी को कष्ट पहुंचाना उचित नहीं अत: अहिंसा का पालन करना चाहिए। अहिंसा पालन करने का यह व्यावहारिक कारण है, प्रधान कारण नही। अहिंसा-पालन करने का नैश्चयिक या प्रधान कारण है—आत्म-कल्याण। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों का अहित करने से पहले अपना अहित करता है। हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, क्योंकि मन में हिंसा के भाव आने मात्र से पापकर्म का बंधन हो जाता है, आत्मा मलिन हो जाती है। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों से वैरभाव बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इसके विपरीत अहिंसा का पालन करने वाला सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, मन में किसी के प्रति द्वेषभाव नही लाता। मन के दूषित न होने पर उसकी आत्मा भी शुद्ध एवं पवित्र रहती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। अहिंसा के पालन से वह जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण हैं। व्यावहारिक कारण है—अन्य प्राणियों के प्रति उपकार और नैश्चयिक कारण है—आत्मकल्याण या मोक्षप्राप्ति।

1.10 अहिंसा प्रशिक्षण (Training of Non-violence)

अहिंसा के विकास के लिए अहिंसा के सिद्धान्त को समझना ही पर्याप्त नही अपितु उसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है। आज विश्व में हिंसा के प्रशिक्षण के लिए अरबों-खरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। विधिवत् हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है किन्तु अहिंसा-प्रशिक्षण पर ध्यान नही दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। आचार्य तुलसी के अनुसार हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है, अपेक्षा है उस शक्ति को जानने की। उनका मानना है मनुष्य के मस्तिष्क में जो हिंसा के केन्द्र हैं, उनका परिष्कार करने के लिए और अहिंसा के केन्द्र को जागृत करने के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग की आवश्यकता है। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं, आचरण से है। हिंसा मत करो यह उपदेश है किन्तु जीवन-व्यवहार में अहिंसा का होना आचरण है। आचरण के लिए अहिंसा का विधिवत् प्रशिक्षण होना आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम प्रस्तुत किये हैं।

अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम (Four Types of Ahimsa Training)

अहिंसा-प्रशिक्षण के मुख्य चार आयाम हैं—

1. हृदय-परिवर्तन, 2. दृष्टिकोण-परिवर्तन, 3. जीवनशैली-परिवर्तन, 4. आजीविकाशुद्धि-प्रशिक्षण।

1.10.1 हृदय-परिवर्तन (Change of Emotions)

अहिंसा-प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है—हृदय-परिवर्तन। हृदय का साधारणतया अर्थ हार्ट (Heart) किया जाता है। यहां हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—भाव-परिवर्तन। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो हैं—एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क मे। हमारे भावों का उद्गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक संस्थान है, अत: हृदय-परिवर्तन को मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधायक भावों को जगाने से है। राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि निषेधात्मक भाव हैं। मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि विधेयात्मक भाव हैं। निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते हैं। सामान्यतया यह समझा जाता है कि आदमी परिस्थितिवश हिंसा करता है। पर वास्तव में परिस्थिति ही हिंसा का कारण नहीं है। बहुत बार परिस्थिति होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक नहीं बनता और बहुत बार परिस्थिति नही होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति हिंसा का मूल कारण नही है, वह निमित्त कारण बन सकती है। मूल कारण है मनुष्य के निषेधात्मक भाव। इन्हें मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियाँ (Instinct) कहा जा सकता है। इन वृत्तियों (भावों) का परिष्कार ही हृदय परिवर्तन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भावनात्मक परिवर्तन में अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुप्रेक्षा में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग—ये दोनों अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों, अर्जित आदतों एवं निषेधात्मक भावों का नाश होता है। नए संस्कारों, नई आदतों और शुभ भावों का निर्माण होता है।

निषेधात्मक भावों का एक मुख्य कारण आहार भी है। आज व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं। पहले कहा जाता था जैसा अन्न, वैसा मन। आज कहा जाता है जैसा आहार, वैसा न्यूरोट्रान्समीटर। जैसा न्यूरोट्रान्समीटर वैसा व्यवहार। हम जो भोजन करते हैं, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, मस्तिष्क में न्यूरोट्रान्समीटर बनते हैं, जो तन्त्रिका तन्त्र के संप्रेषक होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्त्व भी शरीर में बनते हैं अत: किस प्रकार के भोजन से विषैले तत्त्व अधिक बनते हैं, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वह भावों को भी दूषित बनाता है। अत: भाव-परिवर्तन के लिए हिताहार और मिताहार का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

1.10.2 दृष्टिकोण-परिवर्तन (Change of Viewpoint)

अहिंसा-प्रशिक्षण का दूसरा आयाम है—दृष्टिकोण का परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह ही हिंसा के मुख्य कारण बनते हैं।

आज मनुष्य के भीतर अनेक मिथ्या धारणाएँ घर कर गई हैं। **'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'** उपनिषद् के इस वाक्य के आधार पर यह मान लिया गया कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नही है। परिणाम यह हुआ कि उसने यह मान लिया कि सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है। वह भोक्ता है। इस मिथ्या दृष्टिकोण के कारण उसने आवश्यकता से अधिक प्रकृति का दोहन किया। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों और चमड़े का उपयोग किया। पर्यावरण को प्रदूषित किया।

मानवीय संबंधों में आज जो कटुता दिखलाई दे रही है, उसका हेतु भी व्यक्ति का निरपेक्ष दृष्टिकोण है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है—मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े। लेकिन जहां सापेक्ष दृष्टिकोण होता है, वहां व्यक्ति सोचता है—मैं भूखा नहीं हूँ, पर यदि मेरा पड़ोसी भूखा है तो उसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। भूखा व्यक्ति चोरी करेगा, अपराध करेगा और मुझ पर भी आक्रमण करेगा अत: मुझे उसके प्रति निरपेक्ष नही बनना चाहिए।

जहाँ दृष्टिकोण मिथ्या होता है, वहां अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह होता है और आग्रहयुक्त मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिए उत्तरदायी है।

सम्यक् दृष्टिकोण के प्रशिक्षण का उपाय है—अनेकान्त का प्रशिक्षण। अनेकान्त का प्रशिक्षण व्यक्ति को मिथ्या धारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त करता है। परिवर्तन केवल जानने से नही होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सम्यक् दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है—

सिद्धान्त	प्रयोग
1. सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2. सह-अस्तित्व	सह-अस्तितव की अनुप्रेक्षा
3. स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा
4. सापेक्षता	सापेक्षता की अनुप्रेक्षा
5. समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.10.3 जीवनशैली-परिवर्तन (Change of life-style)

अहिंसा-प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है—जीवनशैली का परिवर्तन। आज व्यक्ति अहिंसक बनना चाहता है किन्तु जीवनशैली को बदलना नहीं चाहता। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है परिग्रह का परिमाण करना और परिग्रह के परिमाण के लिए आवश्यक है भोगों पर नियंत्रण करना। अनियंत्रित भोग हिंसा को बढ़ावा देते हैं।

जीवनशैली को बदलने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सुविधावादी जीवनशैली में परिवर्तन। सुविधावादी जीवनशैली प्रदूषण पैदा कर रही है। आज इस वैज्ञानिक युग में समाज सुविधा नहीं छोड़ सकता किन्तु वह असीम न बने—यह विवेक आवश्यक है। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है जीवनशैली में संयम को प्रतिष्ठा मिले, सुविधा को नहीं। वास्तव में संयम ही जीवन है और संयम से ही हिंसा का समाधान है।

अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है जीवनशैली श्रम प्रधान और व्यसनों से मुक्त हो। श्रम किये बिना पैसा प्राप्त करने की मनोवृत्ति हिंसा और अपराध को बढ़ाती है। मादक द्रव्यों का सेवन भी अपराध चेतना को बढ़ाने में निमित्त बनती है।

इस प्रकार जीवनशैली के परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन एवं व्यसनमुक्त जीवन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। अणुव्रत की आचार-संहिता का जीवनशैली के परिवर्तन में बहुत बड़ा आलम्बन है। इसके साथ-साथ निम्नलिखित अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास भी जीवनशैली के परिवर्तन के लिए अपेक्षित है—

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा,
2. सत्य, अचौर्य की अनुप्रेक्षा,
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा,
4. इच्छापरिमाण की अनुप्रेक्षा,
5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा,
6. व्यसनमुक्ति के प्रयोग।

1.10.4 आजीविका-शुद्धि और आजीविका प्रशिक्षण (Training of Livelihood)

अहिंसा-प्रशिक्षण का चौथा आयाम है—आजीविका-शुद्धि और आजीविका-प्रशिक्षण। मनुष्य के पास शरीर है, परिवार है अत: उसे उसका पोषण और संरक्षण भी करना पड़ता है। इसलिए उसके पास कोई-न-कोई आजीविका हो यह अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु हिंसा प्रधान आजीविका का निषेध होना चाहिए। ऐसे व्यापार, जिसमें महाहिंसा होती है, उनका वर्जन करना चाहिए, जैसे—जंगल कटवाना, मांस का विक्रय करना आदि। इस दृष्टि से सम्यक् आजीविका का प्रशिक्षण अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। आजीविका प्राप्त करके भी उसे अनैतिक नहीं बनने देना भी अहिंसा का ही एक प्रयोग है। कुछ लोग अपनी आजीविका से इतना अधिक खर्च कर लेते हैं कि बहुत सारे गरीब लोगों को रोटी मिलना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अहिंसा-प्रशिक्षण में आजीविका का सम्यक् प्रयोग जहां व्यक्ति को परिग्रह से मुक्त करता है, वहीं अन्य लोगों की आजीविका की रक्षा भी करता है।

इस प्रकार अहिंसा-प्रशिक्षण के ये चार महत्त्वपूर्ण आयाम हैं। हृदय-परिवर्तन से दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन होने से जीवनशैली में परिवर्तन होता है। जीवनशैली में संयम की प्रतिष्ठा होने से आजीविका की शुद्धि होती है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले सभी लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे स्वयं इनका प्रशिक्षण लें और दूसरों को भी प्रशिक्षण लेने की प्रेरणा प्रदान करें। इस प्रशिक्षण से निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है। हिंसा के जितने कारण हैं, प्रशिक्षण और प्रयोगों के द्वारा उन कारणों को समाप्त करके अहिंसा का विकास किया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हिंसा के कारणों का निवारण करने के लिए उपर्युक्त अहिंसा-प्रशिक्षण के चार सूत्रों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आवश्यकता है इनको समझकर इनका अभ्यास करने की।

1.11 परिग्रह-परिमाण व्रत (Limit to possession)

जैन आचार श्रमणाचार और श्रावकाचार के भेद दो भागों में विभक्त हैं। श्रमण परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अत: उनका व्रत अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है। जैन परम्परा में श्रमण (मुनि) को अनासक्त चेतना के विकास के लिए सचेष्ट किया गया है। उनके लिए कहा गया—जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नौका आवश्यक है किन्तु समुद्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यात्री उस नौका में आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार जीवन-निर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र आदि धार्मिक उपकरण आवश्यक हैं किन्तु मुनि उसमें आसक्त न बने। आसक्तिवश आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह न करे। किन्तु श्रावक का जीवन बिना परिग्रह के संचालित नहीं होता अत: उनके लिए परिग्रह का पूर्ण त्याग करना अनिवार्य नहीं होता। उनका व्रत परिग्रह-परिमाण (इच्छापरिमाण) अणुव्रत कहलाता है। श्रावक के लिए संग्रह की मर्यादा का विधान है, जो स्वयं श्रावक की इच्छा पर निर्भर है। वह आवश्यकतानुसार पदार्थों का ग्रहण करे और अतिरिक्त या आवश्यकता से अधिक पदार्थ का समाज में वितरण कर दे। अपरिग्रही बनने के लिए परिग्रह के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

1.12 परिग्रह : लक्षण एवं परिभाषा (Definition of Possession)

परिग्रह शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह' धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर बना है, जिसका अर्थ है—पकड़ना, थामना, लेना, ग्रहण करना आदि। परिग्रह का निरुक्तपरक अर्थ करने पर इसकी दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—

1. **परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः**—जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए, वह परिग्रह है।

2. **परिग्रह्यते इति परिग्रहः**—जो ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है।

प्रथम निरुक्त के अनुसार पदार्थ को ग्रहण करने में जो कारण हैं, जिसके कारण व्यक्ति संग्रह करता है, वह परिग्रह है और द्वितीय निरुक्त के अनुसार धन, धान्य, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ परिग्रह हैं। परिग्रह का विपरीत अपरिग्रह है।

वाचस्पत्यम् के अनुसार 'देह यात्रा के निर्वाह के अतिरिक्त भोग के साधनों और धनादि का अस्वीकार अपरिग्रह है।' आत्म-शुद्धि के लिए बाहरी उपकरणों का त्याग अपरिग्रह है। अपरिग्रह और परिग्रह की यह परिभाषा स्थूल दृष्टि से है, जिसका संबंध मात्र वस्तु के अस्वीकार और स्वीकार से है। परिग्रह और अपरिग्रह को सूक्ष्म दृष्टि से परिभाषित करते हुए बताया गया—मूर्च्छा (आसक्ति) परिग्रह और अमूर्च्छा (अनासक्ति) अपरिग्रह है। वस्तुत: पदार्थ अपने आप में न परिग्रह है और न अपरिग्रह अपितु उस पदार्थ के प्रति जब ममत्व भाव जुड़ता है, आसक्ति जुड़ती है तब वह परिग्रह बन जाता है और जब ममत्व भाव हटता है, आसक्ति टूटती है तब वह अपरिग्रह बन जाता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सूक्ष्म दृष्टि से पदार्थ के प्रति मूर्च्छा या आसक्ति का अभाव अपरिग्रह है और स्थूल दृष्टि से पदार्थों का असंग्रह-अस्वीकार अपरिग्रह है।

1.13 परिग्रह के प्रकार (Types of Possession)

परिग्रह दो प्रकार का होता है—अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। व्यक्ति का पदार्थ के प्रति रागात्मक भाव, मूर्च्छा या आसक्ति का भाव अंतरंग परिग्रह है तथा राग (आसक्ति) के कारण पदार्थों का संग्रह बाह्य परिग्रह है। अंतरंग शुद्धि होने से बाह्य परिग्रह की सीमा स्वत: हो जाती है और बाह्य परिग्रह की सीमा होने से धीरे-धीरे पदार्थ के प्रति होने वाली मूर्च्छा टूटती जाती है। बाह्य पदार्थ के निम्न नौ प्रकार हैं—

1.13.1 बाह्य परिग्रह

1. **क्षेत्र**—उपजाऊ भूमि की मर्यादा। इसमें खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड़, खान, जंगल आदि सभी तरह की खुली भूमि का समावेश है।

2. **वास्तु**—मकान, दुकान, गोदाम, अतिथि-गृह, बंगला आदि।

3. **हिरण्य**—चांदी के बर्तन, आभूषण तथा चांदी के अन्य उपकरण आदि।

4. **सुवर्ण**—स्वर्ण, सोने के बर्तन, आभूषण, चैन, घड़ी आदि।

5. **धन**—रुपये, पैसे, सिक्के, नोट, ड्राफ्ट, चैक, बैंक बैलेंस आदि।

6. **धान्य**—अनाज, गेहूँ, चावल, उड़द, मूंग, बाजरा आदि।

7. **द्विपद**—दो पैर वाले प्राणी; जैसे—स्त्री, पुरुष, तोता, मैना आदि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8. चतुष्पद—चार पैर वाले प्राणी, जैसे—हाथी, घोड़ा, गधा, बकरी, गाय, भैंस आदि पशु।

9. कुप्य या गोप्य—स्वर्ण, चांदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। कुप्य का तात्पर्य घर की समस्त सामग्री से है; जैसे—घर के समस्त बर्तन, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, टेलीविजन, कार, स्कूटर, फ्रीज आदि।

1.13.2 अंतरंग परिग्रह (Internal Possession)

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। श्रावक बाह्य और अंतरंग परिग्रह की मर्यादा करता है। जितनी मर्यादा करता है, फिर उसी के अन्तर्गत अपने जीवन का संचालन करता है।

1.14 परिग्रहपरिमाण व्रत की मर्यादाएँ (Limit to the Possession)

श्रावक पूर्ण रूप से परिग्रह का परित्याग नही कर सकता। वह इन नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष वस्तुओं के ग्रहण एवं संग्रह का त्याग करता है। यही इच्छापरिमाण व्रत या परिग्रहपरिमाण व्रत है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिग्रह का परिमाण इस प्रकार किया जाता है; यथा—

द्रव्य से—अमुक-अमुक वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की इच्छा नहीं करूंगा।
क्षेत्र से—अमुक-अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा नही करूंगा।
काल से—इतने दिन, मास, वर्ष या जीवन भर इन वस्तुओं के अतिरिक्त उपयोग नही करूंगा।
भाव से—जिन वस्तुओं की मर्यादा की है, उनसे अधिक की इच्छा नहीं करूंगा।

1.15 परिग्रह का कारण (Causes of Possession)

परिग्रह (पदार्थ संग्रह) के मूल कारण हैं—इच्छा, तृष्णा, काम, लोभ और सुखवादी-सुविधावादी मनोवृत्ति।

1.15.1 इच्छा (Desire) : परिग्रह का मूल इच्छा है। व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं किन्तु इच्छाएँ आकाश के समान असीम होती हैं। इन्छाओं की पूर्ति करने के लिए ही व्यक्ति पदार्थ का संग्रह करता है। टॉलस्टाय ने अपनी कहानी—How much land does a man require? के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे पागल होकर जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त में उसके शव को दफनाने भर के लिए ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। व्यक्ति की इच्छाएँ असीम हैं। एक इच्छा पूरी होते ही तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा जाग जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के इच्छा का गड्ढा इतना बड़ा होता है कि उसको भरने के लिए सारे संसार के समस्त पदार्थ भी थोड़े होते हैं। इसलिए कहा है—Desire is burning fire, he who falls into it never rises again. इच्छा जलती हुई आग है, उसमें गिरा व्यक्ति कभी नही उठता।

1.15.2 लोभ (Greed) : परिग्रह का दूसरा कारण लोभ है। लोभ के वशीभूत होकर ही व्यक्ति अर्थार्जन करता है, परिग्रह के प्रति ममत्व-राग करता है। भगवान महावीर ने कहा—**'जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई'** अर्थात् जहाँ लाभ होता है, वहाँ लोभ होता है, लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे व्यक्ति में एक लाख रुपये प्राप्त करने का लोभ जागता है, एक लाख प्राप्त होते ही दस लाख प्राप्त करने का लोभ जाग जाता है और दस लाख प्राप्त होते ही एक करोड़ का लोभ जाग जाता है। इस प्रकार लोभवश व्यक्ति परिग्रह के लिए प्रवृत्त होता है।

1.15.3 सुविधावादी मनोवृत्ति (Luxurious Mentality) : व्यक्ति सुख-सुविधा का जीवन जीना चाहता है। अपनी इस मनोवृत्ति की पूर्ति के लिए परिग्रह का विस्तार करता है ताकि सुख-सुविधा के साधनों को आसानी से जुटा सके।

1.15.4 प्रदर्शन की मनोवृत्ति (Showing Mentality) : व्यक्ति ज्ञातिजनों और मित्रजनों के सम्मुख परिग्रह का प्रदर्शन कर आंतरिक आह्लाद का अनुभव करता है। प्रदर्शन की भावना से ही प्रेरित होकर वह बंगला, कार, आभूषण आदि का आवश्यकता न होने पर भी संग्रह करता रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.16 परिग्रह का परिणाम (Results of Possession)

परिग्रह अनेक दोषों की जननी है। परिग्रह के लिए ही व्यक्ति हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, अनेक कष्टों को सहन करता है। अतः परिग्रह का परिणाम व्यक्ति के लिए दुःखदाई होता है। जैसे—

❖ धन-धान्य आदि का संग्रह करने के लिए उसे अनेक कष्टों को सहन करना पड़ता है।

❖ धन प्राप्त हो जाने पर उसकी सुरक्षा का भय सदा बना रहता है।

❖ बाढ़, भूकम्प, चोरी-डकैती आदि किन्हीं कारणों से प्राप्त धन का नाश होने पर तीव्र अनुताप होता है।

परिग्रह का सुख तो सभी बंटा लेते हैं, किन्तु परिग्रह से उत्पन्न दुःख का अनुभव व्यक्ति अकेला करता है। परिग्रह असन्तोष, अविश्वास एवं हिंसा आदि का कारण बनता है। इसीलिए परिग्रह का परिणाम दुःख है।

1.17 परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य (Relevance to Limit the Possession)

सामान्यतः यह कहा जाता है कि इच्छाओं का जितना विकास होगा, उतना ही आर्थिक विकास होगा और जितना आर्थिक विकास होगा, उतना ही राष्ट्र का विकास होगा अतः इच्छाओं को असीम बनाना चाहिए। अर्थ विकास के इस युग में परिग्रह-परिमाण व्रत का कोई औचित्य नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य आज भी है। यह अनेक कारणों से मानव जाति के लिए आज भी लाभप्रद है, उनमें से कुछ कारण निम्न हैं—

1. परिग्रह-परिमाण व्रत व्यक्ति को संतोष और शांति प्रदान करता है।
2. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी जैसे दोषों से बच सकता है।
3. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असंयम, लोभ, मिलावट, तस्करी, धोखाधड़ी आदि समस्याओं का समाधान हो सकता है।
4. परिग्रह-परिमाण व्रत करने वाला व्यक्ति निर्धन वर्ग की ईर्ष्या का पात्र बनने से बच जाता है।
5. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर हृदय में उदारता की भावना को बल मिलता है।
6. परिग्रह-परिमाण व्रत सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय होता है क्योंकि उसमें सम्पदा पर एकाधिपत्य की भावना का नाश हो जाता है। अपनी पूर्ति होने के पश्चात् सर्वकल्याण की भावना का विकास होता है।

इस प्रकार भगवान महावीर के अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नही, यह व्यक्तिगत जीवन में सुख और शांति के लिए तथा स्वस्थ समाज संरचना के लिए भी आवश्यक है। यह बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, आतंकवाद और पर्यावरण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याओं के निराकरण का एक सार्थक उपाय है। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करे तथा आवश्यक पदार्थों के प्रति भी मूर्च्छा-आसक्ति न रखे।

1.18 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. अहिंसा किसे कहते हैं?
2. हिंसा के मुख्य कारण क्या हैं?
3. अहिंसा प्रशिक्षण के चार आयाम कौन-से हैं?
4. अहिंसा का पालन क्यों करना चाहिए?
5. अपरिग्रह किसे कहते हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दें—

1. जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करें?
2. हिंसा के कारणों का विवेचन करते हुए अहिंसा की अवधारणा को समझाएँ?
3. अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयामों का विवेचन करें?
4. जैनदर्शन के अनुसार परिग्रहपरिमाण व्रत को स्पष्ट करते हुए उसके औचित्य पर प्रकाश डालें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई 5.2 अणुव्रत आन्दोलन (Anuvrata Movement)

संरचना

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 अणुव्रत आन्दोलन
2.3 अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
2.4 अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात
2.5 अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है
2.6 अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलन है
2.7 अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा
2.8 अणुव्रत का लक्ष्य
2.9 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व
2.10 अणुव्रत : आचार-संहिता
  2.10.1 विद्यार्थी अणुव्रत
  2.10.2 शिक्षक अणुव्रत
  2.10.3 अधिकारी/कर्मचारी अणुव्रत
  2.10.4 श्रमिक अणुव्रत
2.11 अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार
2.12 अणुव्रत का कार्यक्षेत्र
2.13 बोधप्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप—

❖ अणुव्रत आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।

❖ अणुव्रत के निदेशक तत्त्वों से परिचित हो सकेंगे।

❖ अणुव्रत की आचार संहिता को जान सकेंगे।

❖ स्वस्थ समाज की संरचना में अणुव्रत की भूमिका को जान सकेंगे।

❖ अणुव्रत द्वारा विविध क्षेत्रों में किये गए कार्यों से अवगत हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन आचार्य तुलसी ने 2 मार्च, 1949 को सरदारशहर में किया। यह आन्दोलन असाम्प्रदायिक और नैतिकता का आन्दोलन है। यह मानव मात्र की न्यूनतम आचार संहिता है। इसमें शिक्षक, विद्यार्थी, अधिकारी, कर्मचारी, श्रमिक आदि वर्गों के लिए अलग-अलग आचार संहिता भी बनाई गई है। अणुव्रत के नियम जहां व्यक्तिगत जीवन को अच्छा बनाते हैं, वही स्वस्थ समाज की संरचना मे भी अपनी अहं भूमिका निभाते हैं। अणुव्रत के द्वारा शिक्षा, पर्यावरण-शुद्धि, विश्वशान्ति और मानवीय एकता के क्षेत्रों में सुधार की दृष्टि से भी बहुत कार्य किया जा रहा है, जिनका विवेचन इस इकाई में किया गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.2 अणुव्रत आन्दोलन (Anuvrata Movement)

भगवान् महावीर ने दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया—गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। उन्होंने मुनि के लिए अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों के पालन का विधान किया तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य आदि बारह अणुव्रतों का विधान किया। ये अणुव्रत तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थे। युग-परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित उसी अणुव्रत धर्म को आचार्य तुलसी ने युगीन संदर्भों में प्रस्तुत कर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया।

2.3 अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background of Anuvrata Movement)

आज से लगभग पांच दशक पूर्व तक, भारतवर्ष राजनैतिक दासता के घेरे में बंदी था। कुछ चिन्तनशील महापुरुषों ने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त कराने का संकल्प किया और उनके अथक प्रयासों के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारतवासियो में जो एकता थी, आजादी के बाद वह टूट गई। परिणामस्वरूप जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी-गरीबी, मंहगाई आदि मौलिक समस्याओं के साथ-साथ अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्त्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषायी विवाद जैसी समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो उठा। नैतिकता का ह्रास होने लगा। परिणाम स्वरूप एक नैतिक आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की गई।

2.4 अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात (Commencement of Anuvrata Movement)

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से शासन संभाला। हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में 'अणुव्रत आंदोलन' सामने आया। आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है—नैतिक विकास। उसका प्रायोगिक रूप है—अणुव्रत आन्दोलन। 2 मार्च, 1949 को सदारशहर में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत की आचार-संहिता निर्धारित की और यह आह्वान किया कि यदि अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करने वाले कम से कम पच्चीस व्यक्ति मुझे मिल जाएँ तो मेरा विश्वास है कि इससे नैतिकता का नया आयाम खुलेगा। प्रथम आह्वान में ही इकहत्तर (71) व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम उन्होंने स्वयं अपने हाथ से लिखे।

2.5 अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है (Anuvrata is Non-secularism religion)

प्रत्येक धर्म के साथ सम्प्रदाय जुड़ा हुआ है। अणुव्रत का किसी सम्प्रदाय के साथ संबंध नहीं है। यह एक ऐसे धर्म की परिकल्पना है, जो धर्म हो, किन्तु सम्प्रदाय से जुड़ा न हो। अणुव्रत का संबंध नैतिकता से है। नैतिकता साम्प्रदायिक नहीं है। वह सबके लिए समान रूप से समादरणीय है। अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनेक सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अणुव्रत की स्वीकृति। इस आन्दोलन में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी सम्मिलित हुए और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि इसमें हमारे सम्प्रदाय अथवा धर्म से कोई विरुद्ध बात नही है। एक मुसलमान भाई ने आचार्य तुलसी से पूछा—मैं अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार करूं तो क्या नमाज पढ़ सकता हूँ। आचार्य तुलसी ने कहा—उपासना में आप स्वतंत्र हैं, उससे हमारा कोई लेना-देना नही है। आपकी प्रतिबद्धता नैतिकता की आचार-संहिता के साथ है, किसी सम्प्रदाय के साथ नही है। अपने-अपने देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था रखते हुए व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। इसमें जाति, धर्म, रंग, स्त्री, पुरुष आदि का कोई विचार नहीं किया जाता है। जो भी एक इच्छा इन्सान और मानव बनना चाहता है, वह इसे स्वीकार कर सकता है। लाखों लोगों ने इसे स्वीकार किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.6 अणुव्रत : नैतिकता का आन्दोलन है (Anuvrata : The movement of morality)

धर्म और नैतिकता का परस्पर संबंध है, किन्तु लगता है आज नैतिकता विहीन धर्म को मान्यता मिल गई है। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति भी अपने व्यापार या व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। अणुव्रत ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया और एक नया स्वर दिया कि नैतिक बने बिना व्यक्ति धार्मिक नही बन सकता है। अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलनहै।

अणुव्रत के आधार पर नैतिकता का मानदण्ड है—संयम। जहाँ-जहाँ संयम है, वहाँ-वहाँ नैतिकता है। संयम के अभाव में नैतिकता नही हो सकती। इसीलिए इसका मूल मंत्र है—**'संयमः खलु जीवनम्'** संयम ही जीवन है। संयम के विकास के लिए आवश्यक है—मैत्री का विकास, इच्छाओं का सीमाकरण, भोगोपभोग का संयम, प्रामाणिकता और करुणा का विकास करना।

अणुव्रत (Anuvrata)

2.7 अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा (Meaning of Anuvrata)

शाब्दिक दृष्टि से अणु का अर्थ है 'छोटा' और व्रत का अर्थ है 'नियम'। अणुव्रत छोटे-छोटे नियमों की एक आचार-संहिता है। भावात्मक दृष्टि से अणुव्रत का अर्थ है—

❖ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया।
❖ सर्वसम्मत मानव-जीवन की आचार-संहिता।
❖ सम्प्रदाय-विहीन धर्म का प्रयोग।

'अणुव्रत' में सम्प्रदाय गौण है, धर्म तथा चरित्र मुख्य है। केवल अगले जीवन की चिन्ता गौण है, प्रायोगिक जीवन प्रधान है। साम्प्रदायिक मतवाद का आग्रह गौण है, सब धर्म-सम्प्रदायों के साथ सद्भाव का प्रयत्न मुख्य है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—अणुव्रत चरित्र विकास के लिए किये जाने वाले छोटे-छोटे संकल्प हैं।

2.8 अणुव्रत का लक्ष्य (Aim of Anuvrata)

अणुव्रत आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य है—जीवन-मूल्यांकन के दृष्टिकोण और उसकी उच्चता के मापदण्ड को बदलना। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो क्योंकि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव-समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नही बन सकती। आचार्य तुलसी के शब्दों में—

❖ अणुव्रत-आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठा।
❖ अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—जीवन-शुद्धि।
❖ अणुव्रत-आन्दोलन का आदर्श है—चरित्र का उत्कर्ष।
❖ चरित्र-अपकर्ष के हेतु हैं—बहुभोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा।
❖ चरित्र-उत्कर्ष के हेतु हैं—भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता।
❖ आदर्श प्राप्ति के साधन हैं—अणुव्रत।

अणुव्रत का लक्ष्य है—

❖ जाति, रंग, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की प्रेरणा देना।
❖ मैत्री, एकता, शान्ति, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना।
❖ अहिंसक समाज की संरचना करना।

2.9 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व (Directive Principals of Anuvrat)

आंदोलन के प्रारम्भ में नियमों की संख्या तेरह थी, जो बढ़कर छियासी हो गई। सन् 1958 में अणुव्रतों की संख्या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

में फिर परिवर्तन किया गया। इस अवसर पर व्रतों की भाषा का परिष्कार किया गया। अणुव्रतियों के लिए तीन श्रेणियाँ बनाई गई—प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। अणुव्रती के लिए अणुव्रतों के साथ उसके शील और चर्या का पालन भी करना होता है। विशेष संयम का जीवन जीने वाले विशिष्ट अणुव्रती कहलाए।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व, अणुव्रत की आचार-संहिता तथा वर्गीय अणुव्रत निम्नलिखित हैं—

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

1. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
2. मानवीय एकता।
3. सह-अस्तित्व की भावना।
4. साम्प्रदायिक सद्‌भावना।
5. अहिंसात्मक प्रतिरोध।
6. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
7. व्यवहार में प्रामाणिकता।
8. साधन-शुद्धि में आस्था।
9. अभय, तटस्थता और सत्यनिष्ठा।

2.10 अणुव्रत : आचार संहिता (Anuvrata : Code of Conduct)

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
   - ❖ आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
   - ❖ भ्रूण-हत्या नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
   - ❖ आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
   - ❖ विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।
3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
   - ❖ जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूँगा।
   - ❖ अस्पृश्य नहीं मानूँगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूँगा।
   - ❖ साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊँगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूँगा।
   - ❖ अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊँगा।
   - ❖ छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मैं व्यसनमुक्त जीवन जीऊँगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

❖ मादक तथा नशीले पदार्थ—शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।

11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।

❖ हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।

❖ पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

(अणुव्रती के लिए संबंधित वर्गीय अणुव्रतों का पालन अनिवार्य है।)

2.10.1 विद्यार्थी अणुव्रत (Student's Code of Conduct)

❖ मैं परीक्षा में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूँगा।

❖ मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नही लूंगा।

❖ मैं अश्लील शब्दो का प्रयोग नही करूंगा, अश्लील साहित्य नही पढ़ूंगा तथा अश्लील चलचित्र नही देखूंगा।

❖ मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

❖ मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नही करूंगा और न भाग लूँगा।

❖ मैं दहेज से अनुबंधित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नही करूंगा।

❖ मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूंगा और प्रदूषण नही फैलाऊँगा।

2.10.2 शिक्षक अणुव्रत (Teacher's Code of Conduct)

❖ मैं विद्यार्थी के बौद्धिक-विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूंगा।

❖ मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नही लूंगा।

❖ मैं अपने लिए विद्यार्थियो मे दलगत राजनीति को प्रश्रय नही दूंगा। न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूंगा।

❖ मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

❖ मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योग दूंगा।

2.10.3 अधिकारी/कर्मचारी अणुव्रत (Manager's/Worker's Code of Conduct)

1. मैं रिश्वत नही लूंगा।
2. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नही करूंगा।
3. मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में जान-बूझकर विलम्ब या अन्याय नहीं करूंगा।
4. मैं मादक और नशीले पदार्थों को सेवन नहीं करूंगा।

2.10.4 श्रमिक अणुव्रत (Labour's code of conduct)

1. मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूँगा।
2. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नही लूंगा।
3. मैं मद्यपान एवं धूम्रपान नहीं करूंगा तथा नशीले पदार्थों का सेवन नही करूंगा।
4. मैं जुआ नही खेलूंगा।

2.11 अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार (Anuvrata : Base of a Healthy Society)

मनुष्य अकेला जन्म लेता है किन्तु समाज में रहना उसका स्वभाव है। इसीलिए अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। समाज एक ऐसी इकाई है, जहाँ सभी व्यक्ति माला के मनकों की तरह एक-दूसरे से अनुबंधित रहते हैं, किन्तु जहाँ अनुबंधों में दरार पैदा होती है, वहाँ स्वस्थ समाज की कल्पना साकार नही होती। आचार्य तुलसी ने 'अणुव्रत' के माध्यम से स्वस्थ समाज संरचना की बात कही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

'अणुव्रत' स्वस्थ समाज संरचना का आधार है। उनके अनुसार समाज की स्वस्थता के लिए मानवीय एकता की भावना अति आवश्यक है। मानवीय एकता के चार आधार सूत्र हैं—नैतिकनिष्ठा, प्रेम, सहानुभूति और अनाग्रही दृष्टिकोण।

नैतिकनिष्ठा के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी के हितों का विघटन करता है। उसका शोषण करता है।

प्रेम के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है। उसे हीन मानता है, तिरस्कृत करता है।

सहानुभूति के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी को कठिनाइयों की उपेक्षा करता है। अपने ही सुख-दु:ख की समस्या को प्राथमिकता देता है।

अनाग्रही दृष्टिकोण के अभाव में मनुष्य वैचारिक स्वतन्त्रता का हनन करता है। मतभेद के आधार पर एक-दूसरे को कुचलने का प्रयत्न करता है। परिणामस्वरूप समाज रुग्ण बनता है। आचार्य तुलसी ने स्वस्थ समाज संरचना के कुछ सूत्र प्रस्तुत किये, जो निम्नलिखित हैं—

1. हिंसा समस्या का समाधान नहीं, इस आस्था का निर्माण।
2. मानवीय एकता में विश्वास।
3. दूसरों के श्रम का अशोषण।
4. मानवीय सम्बन्धों का विकास।
5. सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण।
6. वैचारिक-सहिष्णुता।
7. जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास।
8. आहार-शुद्धि और व्यसनमुक्ति।
9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार।

2.11.1 हिंसा समाधान नहीं (Violence is not the Solution)

स्वस्थ समाज संरचना के लिए पहली आवश्यकता है—अहिंसक चेतना का जागरण। समाज में जीने वाले एक गृहस्थ के लिए आवश्यक हिंसा और सूक्ष्म हिंसा से बच पाना असंभव है। वह इससे मुक्त नहीं हो सकता। जीवन को चलाने के लिए उसे हिंसा का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु जब व्यक्ति अपनी हर समस्या का समाधान हिंसा से करने का प्रयास करता है तो समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और आतंकवाद जैसी समस्याएँ बढ़ती हैं। परिणामस्वरूप समाज स्वस्थ नहीं अपितु रुग्ण बनता है। स्वस्थ समाज संरचना के लिए आवश्यक है इस आस्था का निर्माण करना कि हिंसा समस्या का स्थायी समाधान नही है। स्थायी समाधान है—अहिंसा। सामाजिक आदमी पूर्ण अहिंसक नही बन सकते पर उसकी आस्था अहिंसा में हो यह आवश्यक है। समाज में जितना-जितना अहिंसा का विकास होगा, मैत्री-प्रेम, भाईचारे की भावना का भी उतना ही विकास होगा और स्वस्थ समाज की परिकल्पना साकार होगी।

2.11.2 मानवीय एकता में विश्वास (Belief in Humanity)

स्वस्थ समाज संरचना का दूसरा सूत्र है—मानवीय एकता में विश्वास। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से देखें तो आज मानव-समाज कई भागों में बंटा हुआ है। एक ही धरती पर कई राष्ट्रों की सीमाएँ खड़ी हैं। भविष्य में भी इस भेद को मिटाया जा सके, संभव नहीं लगता। फिर भी मानवीय एकता में यदि विश्वास किया जाए तो भावात्मक दूरियों को समाप्त किया जा सकता है। वर्ण, जाति, रंग के आधार पर घृणा और अहंकार का जो भाव विकसित हो रहा है, उसे दूर किया जा सकता है। अत: मानवीय एकता में विश्वास स्वस्थ समाज संरचना का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है।

2.11.3 दूसरों के श्रम का अशोषण (Exploitation of others work)

जिस समाज में दूसरों के श्रम का सम्मान नहीं होता, मूल्यांकन नही होता अपितु शोषण होता है, वह समाज स्वस्थ नही रह सकता। समाज-रचना के बारे में एक मान्यता मात्स्य न्याय की रही है। उसके अनुसार बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलकर ही अपना अस्तित्व कायम रख सकती है। उसी प्रकार बड़े आदमी छोटों या अधीनस्थ कर्मचारियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का शोषण कर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। किन्तु स्वस्थ समाज संरचना के लिए यह उचित नहीं है। आदमी का अस्तित्व तो परस्परोपग्रह की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हो सकता है। एक मनुष्य का हित दूसरे के विरोध में नही अपितु सहयोग में ही निहित है। भले ही कुछ लोग अपने बौद्धिक सामर्थ्य से कुछ गरीब लोगों के श्रम का शोषण कर एक बार बड़े बन जाएँ, पर यह व्यवस्था बहुत लम्बी नहीं चल सकती और स्वस्थ समाज का निर्माण भी नहीं कर सकती। दूसरी ओर यदि आदमी दूसरों के श्रम का शोषण न कर उसका सम्मान करे तो न केवल वह स्वयं ही शांति का जीवन जीता है अपितु दूसरों के लिए भी शांत जीवन की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। समाज में स्वस्थ वातावरण का निर्माण करता है।

2.11.4 मानवीय संबंधों का विकास (Development of Human Relationship)

स्वस्थ समाज संरचना का चौथा सूत्र है—मानवीय संबंधों का विकास। आज ऐसा लगता है कि मानवीय संबंधों में बहुत नीरसता और कटुता आ गई है। अधिकारी और कर्मचारी, मालिक और नौकर के पारस्परिक संबंधों में समानता की अनुभूति नहीं है, जिसका परिणाम है आए दिन हड़ताल, तालाबन्दी, अप्रामाणिक व्यवहार। आज भाई-भाई के बीच, बाप-बेटे के बीच भी मानवीय संबंधों का ह्रास हो रहा है। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, खून के रिश्तों में दरार पड़ रही है। मानवीय संबंधों का विकास जहाँ अनेक समस्याओं का समाधान है, वहीं स्वस्थ समाज संरचना का भी आधार है।

2.11.5 सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण (Decentralization of Government and Economy)

सत्ता और अर्थ समाज-रचना के दो प्रमुख संघटक हैं। ये दोनों जितने विकेन्द्रित होते हैं, उतनी ही समाज व्यवस्था अच्छी होती है और ये दोनों जितने केन्द्रित होते हैं, उतनी ही अव्यवस्था फैलती है। एक समय था जब साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी। किन्तु अपने केन्द्रित स्वरूप के कारण आज वह अप्रतिष्ठित और अप्रासंगिक बन गया है। उसका स्थान आज लोकतंत्र ने ले लिया है पर लोकतंत्र की सफलता भी इसी पर निर्भर है कि वह सत्ता और अर्थ को ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रित करे। जब भी ये दोनों सीमित हाथों में केन्द्रित होते हैं तो संघर्ष बढ़ता है अत: आवश्यक है कि इन दोनों को इस तरह विकेन्द्रित कर दिया जाए कि न तो सत्ता शीर्ष पर कुछ लोगों का अधिकार हो और न ही पूंजी कुछ लोगों के हाथों में सिमटकर रहे। इस दिशा में किया गया प्रस्थान समाज को स्वस्थ बनाने की दिशा में किया गया प्रस्थान होगा।

2.11.6 वैचारिक सहिष्णुता (Tolerance of Thoughts)

जिस समाज में अपने विचारों को सही मानने का आग्रह होता है तथा दूसरों के विचारों को सहन करने की मनोवृत्ति नही होती, वह समाज विकास की दिशा में चरणन्यास नही करता। समाज में सबके विचार समान हो जाएँ यह भी संभव नहीं हो सकता। अत: सामाजिक स्वस्थता के लिए वैचारिक सहिष्णुता एक महत्त्वपूर्ण घटक है।

2.11.7 करुणा का विकास (Development of Compassion)

जिस समाज में करुणा का विकास नहीं होता, वह स्वस्थ समाज नही होता। करुणा का विकास संवेदनशीलता से होता है। जिस व्यक्ति में संवेदना जितनी ज्यादा होती है, उसमें करुणा का विकास भी उतना ही अधिक होगा। करुणावान व्यक्ति न केवल मनुष्य के प्रति अपितु संसार के सभी प्राणियों के प्रति संवेदनशील बनता है।

2.11.8 आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति (Free From Addiction)

आहार मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। वह न केवल शरीर का ही पोषक है अपितु वृत्तियों के निर्माण में भी उसकी अहं भूमिका है। जैसा आहार होता है, वैसा ही विचार और व्यवहार होता है अत: स्वस्थ समाज संरचना में आहार-शुद्धि अति आवश्यक है। 'नशा' जीवन का नाश करता है। नशे से न केवल आदमी का स्वास्थ्य बिगड़ता है अपितु उसकी चेतना भी विकृत बनती है। नशे में व्यक्ति को करणीय-अकरणीय का विवेक नही रहता। यह अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। समाज में बढ़ते हुए अपराधों का एक बहुत बड़ा कारण है—व्यसन। अत: व्यसन-मुक्ति से ही स्वस्थ समाज की कल्पना साकार हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.11.9 सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार (Change of Social Customs/Traditions)

स्वस्थ समाज वह होता है, जहाँ अंधविश्वासों तथा अंधरूढ़ियों को आदर नही मिलता। जब अंधविश्वास परम्परा बन जाते हैं तब अंधरूढ़ियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। स्वस्थ समाज व्यवस्था सचेतन समाज व्यवस्था है। वहाँ किसी बात का मूल्य परम्परा नही अपितु उसकी गुणवत्ता से होता है अत: रूढ़ियों से मुक्त समाज-व्यवस्था ही स्वस्थ समाज-व्यवस्था हो सकती है।

2.12 अणुव्रत का कार्यक्षेत्र (Field of Anuvrata)

'अणुव्रत आन्दोलन' स्वस्थ समाज की संरचना का आन्दोलन है। समाज में व्याप्त बुराइयों के प्रतिकार हेतु जन-जागरण इसका मुख्य उद्देश्य है। अणुव्रत के द्वारा मुख्य रूप से निम्नलिखित क्षेत्रों में कार्य किया जाता है, जिसका विवेचन जीवन विज्ञान की रूपरेखा पुस्तक में इस प्रकार किया गया है—

2.12.1 शिक्षा और अणुव्रत (Education and Anuvrata)

शिक्षा समस्त प्रगति का मूल आधार है पर इस क्षेत्र में अनेक बुराइयां तेजी से बढ़ रही हैं। छात्रों में उच्छृंखलता, उद्दण्डता, तोड़-फोड़, नशा, परीक्षा में अवैध उपायों का प्रयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है। शिक्षकों में भी दलगत राजनीति और बौद्धिक आस्था का प्रभाव है। अभिभावकों की व्यस्तता एवं उदासीनता भी बच्चों के चारित्रिक तथा नैतिक ह्रास को बढ़ा रही है। 'अणुव्रत आंदोलन' द्वारा विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक—तीनों के नैतिक उत्थान के लिए अभियान चलाया जाता है। विद्यार्थियों के लिए विद्यार्थी अणुव्रत हैं। प्रतिवर्ष अणुव्रत परीक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं, जिसमें भाग लेकर विद्यार्थी अणुव्रत के चिन्तन और दर्शन से परिचित होते हैं। शिक्षकों के नैतिक जागरण के लिए 'शिक्षक अणुव्रत' का प्रावधान है। अब तक लाखों शिक्षक अणुव्रती बने हैं। इस कार्य को और अधिक गति देने हेतु 'अणुव्रत शिक्षक संसद' और 'अणुव्रत छात्र-संसद' का गठन किया गया है।

2.12.2 व्यापारिक प्रतिष्ठान और अणुव्रत (Business and Anuvrata)

समाज के आर्थिक ढांचे में शोषण, मिलावट, कम माप-तौल, जमाखोरी आदि अनेक बुराइयाँ हैं। इन्हें समाप्त करने की दृष्टि से भी इस अभियान द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। समय-समय पर मिलावट विरोधी अभियान चलाये जाते हैं। व्यापारियों की सभा का आयोजन कर उनमें नैतिक चेतना को जगाया जाता है। उन्हें 'व्यापारी अणुव्रत' से परिचित करवाया जाता है। अनेक व्यक्ति स्वेच्छा से 'व्यापारी अणुव्रतों' को स्वीकार कर स्वस्थ समाज की भूमिका में योगदान देते हैं।

2.12.3 राजनीति और अणुव्रत (Politics and Anuvrata)

राजनीति सम्पूर्ण देश की व्यवस्था का संचालन करती है। अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्गत राजनीति में नैतिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना जागरण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। चुनाव के समय 'प्रत्याशी अणुव्रत' और 'मतदाता अणुव्रत' से जनता को परिचित कराया जाता है। लोकतंत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति जागरूक किया जाता है।

2.12.4 एकता और अणुव्रत (Unity and Anuvrata)

दुनियाँ विविधताओं से भरी हुई है। भाषा, जाति, सम्प्रदाय, रंग और लिंग की विविधता के बीच अणुव्रत मानवीय एकता की आवाज को बुलन्द करता है। विभेद हमारी उपयोगिता है। इस उपयोगिता को वास्तविकता मानना समस्या पैदा करता है। इन सभी भेदों से ऊपर उठकर अणुव्रती कार्यकर्त्ता एक मंच से एक साथ हिल-मिलकर नैतिक अभियान को आगे बढ़ाते हैं। मानवीय एकता की भावना को पुष्ट करते हैं।

2.12.5 धर्म और अणुव्रत (Religion and Anuvrata)

'अणुव्रत आन्दोलन' एक असाम्प्रदायिक आन्दोलन है। इसके द्वारा सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है। समय-समय पर सभी धर्म के लोग एक मंच पर उपस्थित होते हैं। विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तथा सर्वधर्म सद्भाव का वातावरण बनाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.12.6 विश्वशांति और अणुव्रत (Worldpeace and Anuvrata)

आज विश्वशांति का प्रश्न पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। 'अणुव्रत आन्दोलन' विश्व में अहिंसा द्वारा शान्ति स्थापित करने का एक रचनात्मक उपक्रम है। न्यूनतम मानवीय मूल्यों के प्रति वैयक्तिक संकल्प का विकास कर विश्व को हिंसा से मुक्ति दिलाने का अनूठा प्रयोग है। इस हेतु समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है, जिसकी अनुगूंज यू.एन.ओ. तक भी हुई है।

2.12.7 पर्यावरण चेतना और अणुव्रत (Environment and Anuvrata)

असीम उपभोक्तावाद तथा सुख-सुविधावादी दृष्टिकोण ने पर्यावरण के असंतुलन को बढ़ाया है। पदार्थ सीमित हैं, उपभोक्ता अधिक हैं और इच्छाएँ असीम हैं। परिणामस्वरूप प्रकृति का अत्यधिक दोहन हो रहा है और पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। जन-जन में पर्यावरण चेतना को जगाने के लिए 'अणुव्रत आन्दोलन' ने अणुव्रतों का निर्माण किया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति संकल्पबद्ध होता है कि मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूँगा। हरे-भरे वृक्ष को नहीं काटूँगा। पानी का अपव्यय नहीं करूँगा।

2.12.8 समाज और अणुव्रत (Society and Anuvrata)

समाज में समय की आवश्यकतानुसार नियम एवं रीति-रिवाज बनते हैं। कालान्तर में उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। वे रूढ़ि बन जाते हैं। ऐसी रूढ़ियाँ समाज के विकास में बाधक होती हैं। समाज में अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, मृत्यु-भोज, शोक-प्रथा, पर्दा-प्रथा, व्यसन, निरक्षरता जैसे अनेक अभिशाप हैं, जो समाज को रुग्ण बना रहे हैं। अणुव्रत इसके निवारणार्थ समय-समय पर अस्पृश्यता-निवारण, रूढ़ि-मुक्ति, व्यसन-मुक्ति, दहेज-विरोधी अभियान, साक्षरता एवं महिला-जागृति जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का संचालन करता है। इसके अतिरिक्त 'अणुव्रत परिवार' और 'अणुव्रत ग्राम' की योजना को भी साकार रूप दे रहा है। इस प्रकार अणुव्रत का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

2.13 बोधप्रश्न

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक पंक्ति में दें—

1. अणुव्रत किसे कहते हैं?
2. अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कब और किसने किया?
3. अणुव्रत के मुख्य कार्यक्षेत्र कौन-से हैं?
4. अणुव्रत का लक्ष्य क्या है?
5. विद्यार्थी अणुव्रत कौन-से हैं?

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दें—

1. अणुव्रत को परिभाषित करते हुए उसकी आचार-संहिता पर प्रकाश डालें?
2. स्वस्थ समाज संरचना के निर्माण में अणुव्रत की भूमिका को समझाएँ?
3. अणुव्रत के कार्यक्षेत्रों का विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रिय विद्यार्थियों !

इस परिशिष्ट में आपके पाठ्यक्रम में जिन विषयों की चर्चा की गई है, उन विषयों के महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। इन बिन्दुओं को याद किए बिना इन विषयों का उत्तर लिख पाना कठिन होगा। अत: आपको यह सुझाव दिया जाता है कि इन बिन्दुओं को आप कंठस्थ कर लें। पांचों इकाइयों में इन बिन्दुओं का विस्तृत विवेचन दिया गया है, उसका एकाग्रता से दो-तीन बार पारायण करें। विश्वास है कि ऐसा करने से आप 'जैन आचार-मीमांसा' की गहराई तक पहुंच सकेंगे और अपने जीवन में ज्ञान और आचार का संतुलन साध सकेंगे।

इकाई-1 जैन आचार-मीमांसा

1. आचार के पांच प्रकार हैं—

(1) ज्ञानाचार (2) दर्शनाचार
(3) चारित्राचार (4) तपाचार
(5) वीर्याचार

2. ज्ञानाचार के आठ अंग हैं

(1) काल (2) विनय
(3) बहुमान (4) उपधान
(5) अनिह्नवन (6) व्यंजन
(7) अर्थ (8) तदुभय

3. दर्शनाचार के आठ अंग हैं—

(1) नि:शंकित (2) निष्कांक्षित
(3) निर्विचिकित्सा (4) अमूढ़दृष्टि
(5) उपबृंहण (6) स्थिरीकरण
(7) वात्सल्य (8) जिन-प्रभावना

4. चारित्राचार के आठ अंग हैं—

(1) ईर्या समिति (2) भाषा समिति
(3) एषणा समिति (4) आदान-निक्षेप समिति
(5) उत्सर्ग समिति (6) मनोगुप्ति
(7) वचनगुप्ति (8) कायगुप्ति

5. तपाचार के बारह अंग हैं—

(1) अनशन (2) ऊनोदरी
(3) भिक्षाचरी (4) रसपरित्याग
(5) कायक्लेश (6) प्रतिसंलीनता
(7) प्रायश्चित्त (8) विनय
(9) वैयावृत्य (10) स्वाध्याय
(11) ध्यान (12) व्युत्सर्ग

6. तत्त्व के नौ प्रकार हैं—

(1) जीव (2) अजीव (3) पुण्य
(4) पाप (5) बंध (6) आश्रव
(7) संवर (8) निर्जरा (9) मोक्ष

7. पुण्य के नौ प्रकार हैं—

(1) अन्न पुण्य (2) पान पुण्य
(3) लयन पुण्य (4) शयन पुण्य
(5) वस्त्र पुण्य (6) मन पुण्य
(7) वचन पुण्य (8) काय पुण्य
(9) नमस्कार पुण्य

8. पाप के अठारह प्रकार हैं—

(1) प्राणातिपात पाप (2) मृषावाद पाप
(3) अदत्तादान पाप (4) मैथुन पाप
(5) परिग्रह पाप (6) क्रोध पाप
(7) मान पाप (8) माया पाप
(9) लोभ पाप (10) राग पाप
(11) द्वेष पाप (12) कलह पाप
(13) अभ्याख्यान पाप (14) पैशुन्य पाप
(15) पर-परिवाद पाप (16) रति-अरति पाप
(17) मायामृषा पाप (18) मिथ्यादर्शन शल्य पाप

9. बंध के चार प्रकार हैं—

(1) प्रकृति बंध (2) स्थिति बंध
(3) अनुभाग बंध (4) प्रदेश बंध

10. आश्रव के पांच प्रकार हैं—

(1) मिथ्यात्व आश्रव (2) अव्रत आश्रव
(3) प्रमाद आश्रव (4) कषाय आश्रव
(5) योग आश्रव

11. संवर के पांच प्रकार हैं—

(1) सम्यक्त्व संवर (2) व्रत संवर
(3) अप्रमाद संवर (4) अकषाय संवर
(5) अयोग संवर

12. निर्जरा के बारह प्रकार हैं—

(तपाचार के बारह प्रकार ही निर्जरा के प्रकार हैं।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–2 श्रमणाचार

1. महाव्रत के पांच प्रकार हैं—
   (1) अहिंसा महाव्रत (2) सत्य महाव्रत
   (3) अचौर्य महाव्रत (4) ब्रह्मचर्य महाव्रत
   (5) अपरिग्रह महाव्रत
2. समिति के पांच प्रकार हैं—
   (1) ईर्या समिति (2) भाषा समिति
   (3) एषणा समिति (4) आदान-निक्षेप समिति
   (5) उत्सर्ग समिति
3. गुप्ति के तीन प्रकार हैं—
   (1) मनोगुप्ति (2) वचनगुप्ति
   (3) कायगुप्ति
4. श्रमण-धर्म के दस प्रकार हैं—
   (1) क्षमा धर्म (2) मुक्ति धर्म
   (3) आर्जव धर्म (4) मार्दव धर्म
   (5) लाघव धर्म (6) संयम धर्म
   (7) सत्य धर्म (8) तप धर्म
   (9) त्याग धर्म (10) ब्रह्मचर्य धर्म
5. आवश्यक के छः प्रकार हैं—
   (1) सामायिक (2) चतुर्विंशतिस्तव
   (3) वंदना (4) प्रतिक्रमण
   (5) कायोत्सर्ग (6) प्रत्याख्यान
6. गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—
   (1) मिथ्यादृष्टि (2) सास्वादन-सम्यक्दृष्टि
   (3) मिश्र (4) अविरत सम्यक्दृष्टि
   (5) देशविरत (6) प्रमत्तसंयत
   (7) अप्रमत्तसंयत (8) निवृत्तिबादर
   (9) अनिवृत्तिबादर (10) सूक्ष्मसंपराय
   (11) उपशान्तमोह (12) क्षीणमोह
   (13) सयोगीकेवली (14) अयोगीकेवली
7. लेश्या के छः प्रकार हैं—
   (1) कृष्णलेश्या (2) नीललेश्या
   (3) कापोतलेश्या (4) तैजसलेश्या
   (5) पद्मलेश्या (6) शुक्ललेश्या

इकाई–3 श्रावकाचार

1. श्रावक के बारह व्रत हैं—
   ❖ पांच अणुव्रत
   (1) अहिंसा अणुव्रत (2) सत्य अणुव्रत
   (3) अचौर्य अणुव्रत (4) स्वदार-संतोष अणुव्रत
   (5) इच्छापरिमाण अणुव्रत
   ❖ तीन गुणव्रत—
   (6) दिग्व्रत (7) भोगोपभोगपरिमाण व्रत
   (8) अनर्थदण्डविरमण व्रत
   ❖ चार शिक्षाव्रत—
   (9) सामायिक व्रत (10) देशावकासिक व्रत
   (11) पौषधोपवास व्रत (12) अतिथि-संविभाग व्रत
2. श्रावक की ग्यारह प्रतिमा है—
   (1) दर्शन प्रतिमा (2) व्रत प्रतिमा
   (3) सामायिक प्रतिमा (4) पौषध प्रतिमा
   (5) कायोत्सर्ग प्रतिमा (6) ब्रह्मचर्य प्रतिमा
   (7) सचित्तत्याग प्रतिमा (8) आरम्भत्याग प्रतिमा
   (9) प्रेष्य परित्याग प्रतिमा (10) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा
   (11) श्रमणभूत प्रतिभा
3. जैन जीवनशैली के नौ सूत्र हैं—
   (1) सम्यग् दर्शन (2) अनेकान्त
   (3) अहिंसा (4) समण संस्कृति
   (5) इच्छापरिमाण (6) सम्यग् आजीविका
   (7) सम्यग् संस्कार
   (8) आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति
   (9) साधर्मिक वात्सल्य

इकाई–4 ध्यानयोग

1. ध्यान के चार प्रकार हैं—
   (1) आर्त्तध्यान (2) रौद्रध्यान
   (3) धर्मध्यान (4) शुक्लध्यान
2. आर्त्तध्यान के चार प्रकार हैं—
   (1) इष्टवियोग-चिन्ता (2) अनिष्टसंयोग-चिन्ता
   (3) प्रतिकूल वेदना (4) भोगलालसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं—
(1) हिंसानुबन्धी (2) मृषानुबन्धी
(3) स्तेयानुबन्धी (4) विषय संरक्षणानुबन्धी

4. धर्मध्यान के चार प्रकार हैं—
(1) आज्ञा विचय (2) अपाय विचय
(3) विपाक विचय (4) संस्थान विचय

5. शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं—
(1) पृथकत्व-वितर्क सविचार
(2) एकत्व-वितर्क-अविचार
(3) सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती
(4) समुच्छिन्न-क्रिया-अनिवृत्ति

6. ध्यान के दो प्रकार हैं—
(1) सालम्बन ध्यान—
❖ पिण्डस्थ ध्यान
❖ पदस्थ ध्यान
❖ रूपस्थ ध्यान
(2) निरालम्बन ध्यान—
❖ रूपातीत ध्यान

7. पिण्डस्थ ध्यान की पांच धारणाएँ—
(1) पार्थिवी धारणा (2) आग्नेयी धारणा
(3) मारुती धारणा (4) वारुणी धारण
(5) तत्त्वरूपवती धारणा

8. अनुप्रेक्षा के बारह प्रकार हैं—
(1) अनित्य अनुप्रेक्षा (2) अशरण अनुप्रेक्षा
(3) संसार अनुप्रेक्षा (4) एकत्व अनुप्रेक्षा
(5) अन्यत्व अनुप्रेक्षा (6) अशौच अनुप्रेक्षा
(7) आश्रव अनुप्रेक्षा (8) संवर अनुप्रेक्षा
(9) निर्जरा अनुप्रेक्षा (10) धर्म अनुप्रेक्षा
(11) लोक अनुप्रेक्षा (12) बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

9. प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग—
(1) कायोत्सर्ग (2) अन्तर्यात्रा
(3) श्वासप्रेक्षा (4) शरीरप्रेक्षा
(5) चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा (6) लेश्याध्यान
(7) अनुप्रेक्षा/भावना

10. प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग—
(1) वर्तमान क्षण की प्रेक्षा (2) विचार प्रेक्षा
(3) अनिमेष प्रेक्षा

11. प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग—
(1) आसन (2) प्राणायाम
(3) मुद्रा (4) ध्वनि

12. उपसंपदा के पांच प्रकार हैं—
(1) भावक्रिया (2) प्रतिक्रिया-विरति
(3) मैत्री (4) मित-आहार
(5) मित-भाषण

इकाई-5 अहिंसा और अणुव्रत

1. अहिंसा के दो प्रकार हैं—
(1) द्रव्य-अहिंसा (2) भाव-अहिंसा

2. अहिंसा के दो प्रकार हैं—
(1) निषेधात्मक-अहिंसा (2) विधेयात्मक अहिंसा

3. हिंसा के दो प्रकार हैं—
(1) द्रव्यहिंसा (2) भावहिंसा

4. हिंसा के चार प्रकार हैं—
(1) आरम्भजा (2) उद्योगजा
(3) विरोधजा (4) संकल्पजा

5. अहिंसा प्रशिक्षण के चार सूत्र हैं—
(1) हृदय-परिवर्तन (2) दृष्टिकोण-परिवर्तन
(3) जीवनशैली-परिवर्तन (4)
आजीविकाशुद्धि-प्रशिक्षण

6. स्वस्थ समाज संरचना के आधारसूत्र—
(1) हिंसा समस्या का समाधान नहीं
(2) मानवीय एकता में विश्वास
(3) दूसरों के श्रम का अशोषण
(4) मानवीय संबंधों का विकास
(5) सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण
(6) वैचारिक-सहिष्णुता
(7) जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास
(8) आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति
(9) सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार

7. अणुव्रत के कार्यक्षेत्र—
(1) शिक्षा और अणुव्रत
(2) व्यापारिक प्रतिष्ठान और अणुव्रत
(3) राजनीति और अणुव्रत
(4) एकता और अणुव्रत
(5) धर्म और अणुव्रत
(6) विश्वशांति और अणुव्रत
(7) पर्यावरण चेतना और अणुव्रत
(8) समाज और अणुव्रत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रश्न बैंक

1. जैन आचार के आधार और स्वरूप को बताते हुए उसकी विशेषताओं का विवेचन करें?
2. आचार को परिभाषित करते हुए पंचाचार पर प्रकाश डालें?
3. नव तत्त्वों पर एक निबन्ध लिखें?
4. मोक्ष के साधक तत्त्वों का विवेचन करें?
5. जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष की अवधारणा पर प्रकाश डालें?
6. श्रमणाचार पर एक निबन्ध लिखें?
7. अष्ट प्रवचनमाताओं का विस्तार से विवेचन करें?
8. श्रमण के दस धर्मों का विवेचन करें।
9. षडावश्यक का विवेचन करें?
10. गुणस्थान किसे कहते हैं? चौदह गुणस्थानों पर प्रकाश डालें?
11. लेश्या को परिभाषित करते हुए छः लेश्याओं का विवेचन करें?
12. श्रावकाचार पर एक निबन्ध लिखें?
13. श्रावक किसे कहते हैं? श्रावक के पांच अणुव्रतों पर प्रकाश डालें?
14. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करें?
15. जैन जीवनशैली पर प्रकाश डालेंत्र?
16. संलेखना किसे कहते हैं? संलेखना की विधि का विवेचन करें?
17. संथारा किसे कहते हैं? सिद्ध करें कि संथारा आत्महत्या नही है?
18. ध्यान को परिभाषित करते हुए धर्मध्यान और शुक्लध्यान का विवेचन करें?
19. सालम्बन और निरालम्बन ध्यान पर प्रकाश डालते हुए ध्यान की कसौटियों का उल्लेख करें?
20. अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं? विस्तृत विवेचन करें?
21. प्रेक्षाध्यान का अर्थ बताते हुए उसके ध्येय प्राप्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालें?
22. प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा का विस्तृत विवेचन करें?
23. प्रेक्षाध्यान के अंगों पर प्रकाश डालते हुए उसकी उपयोगिता को समझाएँ?
24. जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करें?
25. हिंसा के कारणों का विवेचन करते हुए अहिंसा की अवधारणा को समझाएँ?
26. अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयामों का विवेचन करें?
27. जैनदर्शन के अनुसार परिग्रहपरिमाण व्रत को स्पष्ट करते हुए उसके औचित्य पर प्रकाश डालें?
28. अणुव्रत को परिभाषित करते हुए उसकी आचार-संहिता पर प्रकाश डालें?
29. स्वस्थ समाज संरचना के निर्माण में अणुव्रत की भूमिका को समझाएँ?
30. अणुव्रत के कार्यक्षेत्रों का विवेचन करें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सन्दर्भ ग्रंथ

1. उत्तरज्झयणाणि, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
2. तत्त्वार्थसूत्र, आचार्य उमास्वाति
3. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू
4. जीव-अजीव, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
5. जैन सिद्धान्त दीपिका, आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
6. जैन तत्त्व विद्या, आचार्य तुलसी, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
7. जैन आचार-मीमांसा, आचार्य देवेन्द्र मुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
8. जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, आचार्य देवेन्द्र मुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
9. अणु से पूर्ण की यात्रा, आचार्य देवेन्द्र मुनि, श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर
10. नव पदार्थ, आचार्य भिक्षु, सं. श्रीचन्द रामपुरिया, जैन विश्व भारती, लाडनूँ
11. मूलाचार : एक समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ. फूलचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
12. जीवन विज्ञान की रूपरेखा, मुनि धर्मेश कुमार, जैन विश्व भारती
13. अहिंसा-प्रशिक्षण, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती
14. प्रेक्षाध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती
15. प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप, आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (बी.ए.) द्वितीय वर्ष

विषय–जैन विद्या

प्रथम पत्र-जैन आचार मीमांसा

संवर्ग

संवर्ग	I	:	जैन आचार मीमांसा
संवर्ग	II	:	श्रमणाचार
संवर्ग	III	:	श्रावकाचार
संवर्ग	IV	:	ध्यानयोग
संवर्ग	V	:	अहिंसा और अणुव्रत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. दयानन्द भार्गव**
   पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
   जोधपुर (राजस्थान)

2. **प्रो. अरूण मुखर्जी**
   पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
   जादवपुर विश्वविद्यालय
   कोलकाता

3. **प्रो. कुसुम जैन**
   विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय
   जयपुर (राजस्थान)

4. **डॉ. विमला भण्डारी**
   पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
   जोधपुर (राजस्थान)

5. **प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी**
   निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
   जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

6. **प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा**
   आचार्या
   जैन विद्या विभाग
   जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

7. **प्रो. ऋजुप्रज्ञा**
   आचार्या, जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

8. **डॉ. शुभ प्रज्ञा**
   सहायक आचार्य
   जैन विश्वभारती संस्थान
   लाडनूँ (राजस्थान)

लेखक

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

संपादक

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 1600

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रस्तावना

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार है—आचार। आचार के आधार पर विकसित विचार ही जीवन का आदर्श बनता है। आचार व्यक्ति का क्रियात्मक पक्ष है और विचार उसका ज्ञानात्मक पक्ष है। ज्ञान का प्रकटीकरण जब क्रिया में होता है तब वह आचार बन जाता है। व्यक्ति के अच्छे या बुरे होने का मापन ज्ञान से नहीं, उसके आचरण से होता है। व्यावहारिक मनोविज्ञान का मूल आधार व्यक्ति का आचार ही है।

जैन आचार मीमांसा का मूल आधार है—आत्मा। आत्मा ही कर्मों की कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा में ही कर्म से मुक्त हो परमात्मा बनने की क्षमता है। सम्यक् आचरण करने वाली आत्मा परमात्मा बन जाती है तथा असम्यक् आचरण करने वाली आत्मा जन्म-मरण की परम्परा में परिभ्रमण करती रहती है। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट है, वह आचार है।

आचार की पृष्ठभूमि है—ज्ञान। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया—**'पढमं णाणं तओ दया'** पहले जानो फिर उसका आचरण करो क्योंकि ज्ञान के बिना आचरण का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है तथा अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है। भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया अपितु ज्ञान के सार की खोज की। **'णाणस्स सारमायारो'** ज्ञान का सार आचार है। आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। जैसा कि कहा गया—Knowledge without conduct is blind, conduct without knowledge is lame. व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यो न हो, किन्तु जब तक उसका ज्ञान आचरण में नहीं उतरता, तब तक ज्ञान की उज्ज्वलता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिए जैन शास्त्रों का यह उद्घोष है—'ज्ञान का सार आचार है'।

जैन विद्या स्नातक द्वितीय वर्ष का यह प्रथम पत्र 'जैन आचार-मीमांसा' निम्नलिखित पांच इकाइयों में विभक्त है—

1. जैन आचार : आधार और स्वरूप
2. श्रमणाचार (मुनि का आचार)
3. श्रावकाचार (गृहस्थ का आचार)
4. ध्यानयोग-साधना
5. अहिंसा और अणुव्रत-आन्दोलन।

जैन आचार का आधार है—आत्मा। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट है, वही जैन आचार का स्वरूप है। भगवान महावीर ने आचार के दो मार्ग बतलाये—श्रमणाचार और श्रावकाचार। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति तथा दस धर्मों का अखण्ड रूप से पालन करना श्रमणाचार है।

पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि व्रतों का अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। आचार का उत्कृष्ट रूप है—योग-साधना। जैन योग के मुख्य सूत्र दो हैं—संवर और निर्जरा (तप)। निर्जरा का प्रधान अंग है—ध्यान। ध्यान का अर्थ है—चित्त को किसी एक आलम्बन पर स्थिर करना और मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध करना। जितनी-जितनी एकाग्रता बढ़ती है, योग का निरोध होता है, व्यक्ति उतना ही ध्यान की गहराई में प्रवेश पाता है। ध्यान वह अग्नि है जो सूक्ष्मतम कर्मशरीर को प्रकंपित करता है। कर्मों का क्षय कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध करना ही सम्पूर्ण जैन आचार का सार है।

आशा है 'जैन आचार-मीमांसा' का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी वर्ग के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। वे न केवल जैन आचार-मीमांसा से परिचित हो सकेंगे अपितु अपने जीवन में भी ज्ञान और आचार का संतुलन साध सकेंगे। व्यक्तिगत जीवन में शांति, प्रेम, मैत्री, करुणा, अहिंसा, संयम आदि मूल्यों को आत्मसात करते हुए स्वस्थ समाज की संरचना में अपना योगदान दे सकेंगे, ऐसा विश्वास है।

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
संवर्ग-1	**जैन आचार-मीमांसा**	**1-23**
	❖ जैन आचार का आधार और स्वरूप	
	❖ पंचाचार	
	❖ नव तत्त्व	
संवर्ग-2	**श्रमणाचार**	**24-47**
	❖ श्रमणाचार—महाव्रत, समिति, गुप्ति	
	❖ दस धर्म	
	❖ षडावश्यक	
	❖ गुणस्थान	
	❖ लेश्या	
संवर्ग-3	**श्रावकाचार**	**48-68**
	❖ श्रावकाचार—अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत	
	❖ श्रावक की प्रतिमा	
	❖ जैन-जीवनशैली	
	❖ संलेखना : संथारा	
संवर्ग-4	**ध्यानयोग**	**69-95**
	❖ ध्यान का स्वरूप	
	❖ सालम्बन-निरालम्बन ध्यान	
	❖ अनुप्रेक्षा	
	❖ प्रेक्षाध्यान : स्वरूप और ध्येय	
	❖ प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा	
	❖ प्रेक्षाध्यान के अंग	
संवर्ग-5	**अहिंसा और अणुव्रत**	**96-117**
	1. अहिंसा का स्वरूप	
	2. अहिंसा-प्रशिक्षण	
	3. अपरिग्रह (परिग्रह-परिमाण)	
	4. अणुव्रत-आन्दोलन	
	5. अणुव्रत : आचार-संहिता	
	6. स्वस्थ समाज संरचना का आधार	
	7. अणुव्रत का कार्यक्षेत्र का	
स्मरणीय बिन्दु		**118-120**
प्रश्न बैंक		**121**
सन्दर्भ ग्रन्थ		**122**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun